दिल्लीसंस्कृतअकादमी के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

रसवसुमूर्त्तिः

आचार्यश्रीचन्द्रमौलिद्विवेदिविरचितः

सम्पादकः
डॉ० शशिकान्ताद्विवेदी

समज्ञा प्रकाशनम्
वाराणसी

रसवसुमूर्त्तिः

रचयिता
प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी
अध्यक्षः - साहित्यविभागः
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः
वाराणसी।

*

सम्पादकः
डॉ० शशिकान्त द्विवेदी

प्रकाशन
समज्ञा प्रकाशनम्
वाराणसी

प्रकाशक

समज्ञा प्रकाशनम्

वाराणसी– २२१००५

दूरभाष – (0542) 2316109

सन् – २००२–२००३

मूल्य – ४५०

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान–

डॉ० शशिकान्त द्विवेदी

N२/२९७ B–२ करौंदी

पो०– सुसुवाहीं (B.H.U.)

वाराणसी– २२१००५

दूरभाष – (0542) 2316109

मुद्रक –

महावीर प्रेस

बी. २०/४४ भेलूपुर

वाराणसी–221010

दूरभाष – (0542) 2276214

आचार्यचन्द्रमौलिद्विवेदीविरचितोऽयम्

रसवसुमूर्त्तिः



प्रस्तावना

रसवसुमूर्तिरिति नाम्ना रचितोऽयं काव्यशास्त्रीयो ग्रन्थः श्रीमदभिनवगुप्तस्याभिनवभारतीस्थरसनिरूपणं स्पष्टयितुं तत्तदाचार्याणां सरणौ रसविषयकं यत्किञ्चित् सूक्ष्मं तत्वं, अर्थानवबोध-विचक्षणपदवाक्यार्थघटितमिदानीन्तनैः व्याख्यानदुर्गमं तद् विवरिषुरस्ति। सारल्येन परवर्तिमहदाचार्याणां मम्मटपण्डितराजादीनां रसविषयकं सन्दर्भमनेन ग्रन्थेन, रसतत्त्वबुभुत्सवो जना अवगन्तुं शक्नुयुरिति विचार्यैव मदीयात्र प्रवृत्तिः। रसपदेनात्रासंलक्ष्यक्रमध्वनिप्रसङ्गे निरूपितानां रसाद्यष्टमूर्तीनां रसभावादीनां निरूपणमस्ति। अत्रोदाहरणत्वेन लक्षणत्वेन ये केचन श्लोका याश्च कारिकास्ता सर्वा अपि (क्वचित्प्रामाण्येनोपन्यस्तान् विहाय) मयैव निर्मिताः सन्ति। परिवर्तनशीलप्रवाहेऽस्मिन् संसारे यत्किञ्चिदत्र मयोपास्थापितं तत्तु न प्राचीनविलक्षणं किन्तु प्राचीनगह्वरान्तःनिपातास्फुटितार्थाधुनिक-समीक्षकार्णां बुद्धानवभासितमिवावश्यं प्रतिभाति। ग्रन्थेनानेनावश्यमेव संस्कृतमाध्यमेन प्राचीनाचार्यशास्त्राणामवबोधनाय यतमानानां-छात्राणामपि महान्तमुपकारमनुमिनोमि। सर्वत्रैव भारतीयशास्त्रप्रणाल्या रसस्वरूपं रसनिष्पत्तिप्रक्रियां पिपठिषवः स्नातकस्नातकोत्तरच्छात्रा दृश्यन्ते, तेषामवश्यमेव साहाय्यमनेन स्यादितिधिया कृतकृत्यमात्मानं मन्येय। न केवलं च्छात्रैर्विद्वदद्भिरपि विहङ्गमदृष्टिरत्रावश्यं निपातनीयेत्यभ्यर्थयामि। यथामति यथकालमत्र गूढतरविषयं विवरीतुंभृशं प्रवृत्तस्य मे स्खलनमनिवार्यम् तथापि तान् सर्वान् विद्वच्चरणानभ्यर्थये यदस्यावलोकनं विधाय चेत्क्वचित्त्रुटिर्दृष्टिगोचरा भवेत्तर्हि तमवश्यं लेखकाय बोधयेयुरिति। तेषामनुग्रहं मन्वे।

गूढतरविषयेषु "किं रसेभ्यो भावानमभिनिवृत्तिरुताहो। भावेभ्यो रसानामिति केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृतिरिति। तन्न..

"न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित:"। इत्यादि नाट्यशास्त्रम्—

"संवेदनाख्ययाव्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचर:

आस्वादनात्मानुभवो रस: काव्यार्थ उच्यते। इति

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते। अनुभवेन तद्विषय इति मन्तव्यम्।" इत्यभिनवभारती।

एवमेव बहुत्र गूढतरविषयेषु व्याख्यानच्युतिराधुनिकानां हिन्दीलेखननिपुणानामाचार्याणां लक्ष्यते। ये केचन विद्वांसोभिनवभारतीं व्याख्यातुं प्रवृत्तास्ते मदूदृष्टौ स्खलिता एव प्रतिभान्ति। एतेन च्छात्राणां न केवलं शास्त्रप्रतिकूलव्याख्यानाधिगमेन शास्त्रार्थसन्देहो अपितूत्पथ गामिविचारोऽपि स्फुरिष्यत्येव। यदा हिन्दीभाषया अस्यानुवाद: विधीयते तदानीं तत्तदाचार्याणां मतानि नियत—मुपस्थाप्यन्ते।

भावादिविषयेऽपि सर्वेषामाचार्याणां मतानि निर्मथ्य किमपि प्रस्तुतं तत्तु नवीनमिव भाति। यतो हि प्रसिद्धशास्त्रवाक्यान्येवेदानी मधीयते जना यथाकक्षं निर्धारितानि। एतेन विचारितमपि वस्तु चेदुद्घाट्येत तदपि नवीनमिव लोकैर्ज्ञायेत।

....

भूमिका

प्रस्तुत रसवसुमूर्त्ति नामक इस ग्रन्थ में नाट्यरस का विवेक प्रस्तुत किया गया है। रसविवेक से पूर्व नाट्य क्या है तथा दृश्य, सूच्य, श्रव्य वस्तुएँ क्या हैं इस पर विचार आवश्यक है।

नाट्य —

नाट्य का लक्षण दशरूपककार ने इस प्रकार किया है— 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यमिति' अर्थात् नायकादि पात्रों की विभिन्न अवस्था का अनुकरण ही नाट्य है। प्रेक्षकों से दृश्य होने के कारण या मुख में चन्द्रारोप की तरह आरोपवत् यही नाट्य रूपक भी कहलाता है।

इस नाट्य व्युत्पत्ति में जो अनुकृति या आरोप है वह शब्दात्मक है या अर्थात्मक। इस पर कुछलोगों का विचार है कि नाट्य का अशब्दात्मकत्व अर्थात् अर्थात्मकत्व ही उचित है। अन्यथा ''य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदम् इति'' तथा 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' इत्यादि में असंगति स्फुट हो जायेगी, क्योंकी नाट्य शब्द से ही जब नाट्यशास्त्र का भी संग्रह हो जाय। तो नाट्य का शास्त्र में विशेष्यतया निर्दिष्ट शास्त्र पद या वेदादि पद का उपादान व्यर्थ है। उसके उपादान से नाट्य का अशब्दात्मकत्व या अर्थात्मकत्व स्पष्ट होता है। अतएव भावप्रकाश में कहा है—

रामादितादात्म्यापत्तिर्नटे या, नाट्यमुच्यते।
रूपकं तद् भवेद्रूपं दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम्।।
रूपकत्वं तदारोपात्मकसारोपवन्मुखे ।। इति।

दृश्यत्व और आरोप ज्ञानात्मक होने से इनमें नाट्य तादात्म्याप्रत्ति है, अत: इससे शब्दात्मकत्व का निराकरण होता हैं। अभिनवभारती में भी 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' इस स्थल की व्याख्या में नाट्य और तत्शास्त्र ऐसी व्युत्पत्ति की गयी है। पुन: यह शङ्का होती है कि नाट्य का शब्दात्मताव्यतिरेक अर्थात् अर्थात्मक होने से प्रवचन अयोग्यता है, नाट्य अशब्दात्मक या अर्थात्मक है। नाट्य की प्रोच्यमानता के लिए बाह्यशब्दस्वरूप का निरास प्राप्त न होने पर, शास्त्र शब्द का आनर्थक्य

प्रसङ्ग होगा। फिर 'य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदम् इति'' इस वचन में जो वेद कहे हैं उसकी असङ्गति की आपत्ति होगी। शब्दादिविषयता के विना 'शृणुयात्' पद का अवाचकत्व सिद्ध होगा।

पुन: अन्य आचार्य 'नटनीयमनुकरणं दशरूपकं नाट्यम् तस्येदं शस्त्रम्' ऐसा कहते हैं। यहाँ दशरूपक लक्षण ही दृश्य है। और दशरूपक कवि का कार्य है, तथा 'नटनीय' इस तात्पर्य से रसादि पदार्थों का वहीं पर्यवसान होता है।

इन दोनो उदाहरणों से नाट्य का अर्थात्मकत्व (अशब्दात्मकत्व) या शब्दात्मकत्व या उभयात्मकत्व विचारणीय है। इसमें प्रथम उद्धरण से अशब्दात्मकत्व, द्वितीय उद्धरण से दशरूपक से अभिन्न होने से नाट्य के शब्दात्मकत्व का प्रतिपादन होता है। यहीं पर नाट्य के कितने अङ्ग हैं, उन – रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान, रङ्ग का निरूपण किया गया है–

नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसंग्रहम्।
रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तय:।
सिद्धि: स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रह:।।

इन सभी का विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में विशद रूप में किया गया है।

इस प्रकार से यह नाट्य दो प्रकार का है– दृश्य और श्रव्य। जहाँ श्रव्य होता है वहाँ केवल श्रव्यमात्र नहीं अपितु दृश्यश्रव्यात्मक मानना चाहिए, और जो केवल दृश्य होता है वह नृत्यादि नाट्यान्तर्गत ही है। या यह कह सकते हैं कि काव्यत्व दृश्यश्रव्यात्मकत्व में होता है, दृश्यत्वमात्र तो काव्य से इतर में नृत्यादि मे है। अकाव्यात्मक रागादि से भी और काव्यात्मक रूपकादि से भी रस अभिव्यक्त होता है। अत: रसभावात्मक नाट्य का निर्देश करते हैं।

अब यह शङ्का होती है कि कैसे यह नाट्य काव्य–अकाव्यात्मकत्व भेद से दो प्रकार का है, क्योंकि सभी नाट्य दशरूपकात्मक ही हैं, तथा दशरूपकों में सर्वत्र काव्यत्व है ही। अत: काव्य का अपर पर्याय ही नाट्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। जैसा कि पूर्व में कहा है– नाट्य अनुकरणीय है वह दशरूपकात्मक है। केवल सिद्धिस्वरातोद्यगानरङ्गादि में अकाव्यत्वापत्ति कहे हैं न कि रूपकाङ्ग मे रूपक की काव्यता, से अङ्गरूपइनकी काव्यता स्वयं सिद्ध ही है, यहाँ अकाव्यता कहा दिखाई

पडती है। इसपर कहते हैं कि सर्वत्र रूपकादि के अङ्गतया इनकी स्थिति नहीं है अपितु स्वतन्त्रतया भी है। अत: पण्डितराज ने कहा है— ''यत्त्वास्वादोद्बोध- कत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहु: तन्न। रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकला— लङ्कारिकसंमतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्ते:। किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्वापत्तिर्दुवरिव'' इति।

इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी नाट्याङ्ग काव्यत्वेन स्वीकृत नहीं हैं। अत: नाट्य के दो रूप हैं — काव्यरूप और अकाव्यरूप। शब्दप्रतिपाद्यत्व होने से इसकी काव्यता और अर्थमात्र प्रतिपाद्यत्व होने से इसकी अकाव्यता सिद्ध है।

नाट्य के काव्यत्व और अकाव्यत्व को छोडकर, नाट्य को दृश्य और श्रव्य रूप में कहने पर काव्य के भी दृश्य और श्रव्य भेद प्राप्त होने से फिर केसे नाट्य और काव्य में भेद होगा ऐसी शङ्का होने पर ग्रन्थकार ने कहा है— नाट्यं दृश्यं श्रव्यमिति उक्त्या, क्रमेण नाट्यस्य केवलं दृश्यत्वानुकूलाङ्गिकाभिनयपात्रत्वं, दृश्यत्वसमानाधिकरणश्रव्यत्वानुकूला— भिनयविशिष्टपात्रत्वञ्च गृह्यते। काव्यस्य दृश्यत्वं दृश्यत्वसमानाधि— करणश्रव्यत्वानुकूल-वाचिकाभिनयपात्रत्वं, श्रव्यत्वञ्च केवलं शब्दात्मकत्वं विवक्षितमिति मन्तव्यम्।

अर्थात् उसी रूपकादि में दृश्यत्व इष्ट है जहाँ कोई पात्र आकर अपनी वस्तु अपने ही वाचिक अभिनय से, गुणीभूत आङ्गिक अभिनय के साथ रङ्गमञ्च पर सहृदयजन के सामने प्रस्तुत करता है। इसे ही **दृश्य** कहते हैं।

सूच्य वह है जहाँ किसी पात्र की उक्ति अन्य किसी पात्र के द्वारा उक्ति के अनुकूल अभिनयशून्य केवल शब्दमात्र का कथन हो। दृश्य—सूच्य दोनों की काव्यात्मकता है किन्तु जहाँ शब्दरहित केवल आङ्गिकाभिनय से भावाभिव्यञ्जक नृत्यादि की उपस्थिति हो वहाँ अकाव्यत्व ही है।

रूपकादि में क्या दृश्य है? क्या सूच्य है? इसमें बहुतों की भ्रान्ति है। जहाँ दृश्यत्व है वहाँ भी शब्दसूच्यत्व है, जहाँ सूच्यत्व है वहाँ भी रङ्गमञ्चस्थ पात्र के दर्शन होने से दृश्यत्व है। अत: कैसे यह कहा जा सकता है कि यह दृश्य है और यह सूच्य है। सूच्यरूप में उपात्त उपक्षेपकों का अङ्कगतत्व क्यों नहीं है? अङ्कगतत्व के अभाव में उसका

रूपकात्मक काव्यत्व है या नहीं इत्यादि विकल्प हो सकते हैं। इन सभी (सूच्य–दृश्य–श्रव्यवस्तु के विवेक के माध्यम से अङ्कोपक्षेपक और दृश्य–सूच्य के विभाग) का सोदाहरण मार्मिक विवेचन ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने किया है।

रससूत्र विवेक –

रस क्या है? क्या नाट्य में जो रस शब्दत: कहे गये हैं, वे रस हैं या वाद्यादि की ध्वनि से जो प्रस्तुत है वह रस है? क्या रस सभी नाट्यार्थों का प्रवर्तक या सभी नाट्यार्थ रसों के प्रवर्तक हैं? तथा 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' इस सूत्र का क्या अभिप्राय है?

यहाँ विभाव रामादि हैं, अथवा रामादि का अनुकर्त्ता नट है, नट में रामत्व की प्रतीति है, न कि नटत्वादि की प्रतीति है। विभाव कारण है या लिङ्ग (लीनमर्थं गमयतीति) है। यदि कारण है तो किसका कारण है स्थायि का या रस का, या दोनो का । यदि लिङ्ग है तो किसका लिङ्ग है। लिङ्ग होने पर भी सत्यतया है या असत्यतया है। लिङ्ग के असत्य होने पर कैसे लिङ्गि रत्यादि की सत्यत: सुखात्मकता है? विभाव का काव्यानुसन्धान हैं कि नहीं? अनुकार विभाव में घटित होता है या नहीं? अनुकार भी वंषभूषादि का है या वस्तुवृत्त का है? सांख्य की दृष्टि से क्या सुखदु:खजनन युक्त बाह्य सामग्री है या नहीं? विभाव, प्रत्यायक हैं, उत्पादक हैं, अभिव्यञ्जक हैं, या भावक हैं? इत्यादि अनेक प्रश्न सम्भावित हो सकते हैं। इन सभी प्रश्नों का यथावकाश स्फोरण ग्रन्थ में वर्णित हैं।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' इस रस सूत्र में दो पद हैं। पूर्व पद में पञ्चमी तथा उत्तर समस्त पद में प्रथमा विभक्ति है। समस्त पूर्वपदों में चार पद हैं, तथा उत्तर समस्त पद में दो पद हैं। प्रत्येक पद के क्या अर्थ हैं एवं विभक्ति का क्या अर्थ है इसे बहुत से आचार्यों ने प्रदर्शित किया है। यहाँ हेतौ इस सूत्र से निर्दिष्ट पञ्चमी विभक्ति है। इसके अर्थ प्रतिपादन में जो जो हेतु सम्भावित हैं वे अनेक है कहीं अभिधा कहीं तात्पर्या, कहीं अनुमिति, कहीं भुक्ति कहीं अभिव्यक्ति, कहीं दोष विशेष आदि है। संयोग भी विभावादि तीन पदों में सम्यकयोग तथा प्रत्येक में मिश्रित होकर अपने उत्तरोपात्तविभक्त्यर्थ हेतु के साथ

योग को नाना प्रकार से धारण करता है। इन सभी का योग अनुपात्त स्थायी के साथ है या रस के साथ। द्वितीय पद रस भी अनेक प्रकार का है। जिस जिस हेतु के द्वारा वह सम्बद्ध होता है उस उस प्रकार से अपने को परिणमित करता है। वह सिद्ध है, व्यापार रूप वाला है, चर्वणा, रसनादि में उपचरित है अनेक विद्वानों द्वारा अनेक प्रकार से इस सूत्र का व्याख्यान किया गया है। यह नाट्य रस हैं अतः नाट्याद्रसः, नाट्यमेवरसः, नाट्ये रसः, नाट्यमाश्रित्य रस आदि अनेक प्रकार से विभाग किया गया है। इन सभी के मतो का प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रन्थ में है।

सूत्रस्थविभावादि प्रत्येक में रस है ऐसा स्वीकार करने वालो के मत में शुद्ध विभाव रस है, शुद्ध अनुभाव रस है, शुद्ध व्यभिचारिभाव रस है तथा इनका संयोग रस है ऐसा विकल्प करते है। यहाँ द्वन्द्वान्त में श्रूयमाण जो विभक्ति वह प्रत्येक के साथ मिलकर विभावाद्रसनिष्पत्तिः, अनुभावाद्रसनिष्पत्तिः, व्यभिचारिभावाद्रसनिष्पन्तिः तत्संयोगाद्रसनिष्पत्तिः इत्यादि सूत्र की व्याख्या करके कार्यकारण में अभेदोपचार से विभाव ही रस है, इत्यादि स्वीकृत है। इनके मतों में शुद्ध विभावादि से भी रसनिष्पत्ति देखी जाती है क्योंकि विभावादि प्रत्येक भावरूप है और भाव से रसनिष्पत्ति देखी जाती है।

किसी का मानना है कि तत्संयोग भी रस है। इनका अभिप्राय है कि अनौचित्यादि से प्रवृत्त विभावादि रस नहीं है अपितु औचित्य से प्रवृत्त विभावादि से स्थायि संयुक्त होती है अतः तत्संयोग (स्थायिसंयोग) ही रस है। अन्यथा विभावादि में कहीं भी रस नहीं है।

उक्त तीनों में जो चमत्कारी है वही रस है अन्यथा तीनों नहीं है। जैसा कि ध्वन्यालोकलोचन में भी कहा है– "अन्ये तु शुद्धं विभावं, अपरे शुद्धमनुभावं केचित्तु स्थायिमात्रं इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम् एके अनुकार्यम् केचन सकलमेव समुदायम् रसमाहुरिति"।

तीनों का संयोग रस है ऐसा स्वीकार करने वाले आचार्यो में प्रथम अभिधा द्वारा रसनिष्पत्ति स्वीकार करने वाले आचार्य भट्टलोल्लट हैं।

भट्टलोल्लट मत–

आचार्य भट्टलोल्लट के मत में – विभाव – आलम्बन व उद्दीपन कारण हैं। इन कारणों से रामादि अनुकार्य में रत्यादि भाव जनित

अर्थात् उत्पन्न होता है। यहाँ रस पद से रत्यादिस्थायिभाव गृहीत है, संयोग से कार्यकारणभावरूप अर्थ गृहीत है। रामादि में उत्पन्न रत्यादि अपने कार्य से अनुभवादिद्वारा सम्यक् अनुमित या प्रतीत होते है। अत: अनुभाव के साथ अनुमेयानुमापकत्व, या प्रत्याय्यप्रत्यायकत्व अर्थ संयोग पद का है। व्यभिचारी द्वारा वही रामादिगत रत्यादि पोषित है, अत: व्यभिचारी के साथ संयोग का अर्थ पोष्यपौषकभाव है और प्रत्येक विभावादि के साथ रत्यादि स्थायिभाव का सम्यक यथोचित जन्यजनकभाव द्वारा प्रत्याय्यप्रत्यायकभाव द्वारा पोष्यपोषकभाव द्वारा स्थायिरत्यादि का योग ही रस की निष्पत्ति है। काव्य नाट्य समर्पित रामादि संज्ञा वाले अनुकार्य में स्थायी जो रत्यादि है वे अभिधा द्वारा या मुख्य वृत्ति से प्रतिपादित होते हैं। नर्तक में तो उस रूप का अनुसन्धान होने से ये लक्षणावृत्ति से है। सामाजिकों में तटस्थतया तत्रस्थ रत्यादि ही रस रूप सारोपसाक्षात्कृत होते हैं ऐसा मम्मट ने कहा है। अभिनवगुप्त तो अभिनवभारती में सामाजिक के प्रति कुछ भी नहीं कहते हैं।

यहाँ रस पद से जो स्थायिभाव गृहीत है वह अनुभाव के प्रति कारण है। अत: यहाँ हेत्वर्थ पञ्चमीविभक्ति के उपादान से यह प्रतिपादित होता है कि यह रस पद न केवल स्थायिमात्र है अपितु उपचितस्थाय्यात्मक रसस्वरूप भी है ऐसा प्रतिपादित है। अत: उपचितस्थायिभावात्मक रस के प्रति अनुभाव का कारणत्व, स्थायिभाव के प्रति कार्यत्व है।

इनके मत में रस भी दो प्रकार का है। प्रथमलौकिक रामादिगत, और द्वितीय नटसामाजिकादिगत अलौकिक ऐसा विद्वानों ने माना है। जैसा कि रसमञ्जरीकार ने कहा है –

रसो द्विविध:, लौकिक: अलौकिकश्च।' और अभिनवगुप्त ने भी कहा है– 'विभावादिभि: संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पति:।' 'विभावश्चित्तवृत्ते: स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या:, अत्र विवक्षिता: तेषां रसकारणत्वेन, गणनानर्हत्वात्''। इति। रसकारणत्वं तु हेत्वर्थकपञ्चमी– विभक्त्युपादानाद्। इति स्पष्टम्। अत: स्थायिजन्या अनुभावा इति विव्रियते। अत्र नाट्ये रस: इति नाट्यरसो विवृत:।

भट्टलोल्लटमत खण्डन –

भट्टलोल्लट के मत के उत्थान में मुनि का यह वचन है–

रसपूर्वकत्व भावों का भावपूर्वकत्व रसों का, विषयविशेष की अपेक्षा के लिए नाटय प्रयोग होने पर अनुकर्त्ता में रसों का आस्वाद होता है अनुकार्य में भाव प्रतीति उत्पन्न होती है। अर्थात् इस मत में यह स्पष्ट है कि मुख्यतया दुष्यन्तादिगत ही रस–रत्यादि को मनोहरविभावादि अभिधेय से प्रदर्शित अनुकर्ता नट में आरोप कर साक्षात्कार करते हैं। साक्षात्कार यह है कि यह दुष्यन्त शकुन्तलादिविषयक रति वाला है। यहाँ दुष्यन्तादि धर्मि अंश में लौकिक रस है। और आरोप्यांश में अलौकिक रस हैं।

यहाँ अभिनवभारती में आचार्य शङ्कुक के मत उपस्थापन के समय दोष दिखाते हैं।

सूत्रस्थ 'रस निष्पत्तिः' इस स्थल में रस का क्या अर्थ है। यदि स्थायिभाव है तो विभावादि से स्थायि की निष्पत्ति है ऐसा कहना चाहिए। यदि उपचित स्थाय्यात्म रस की निष्पत्ति है तो पूँछना है कि स्थायी कहाँ प्राप्त है। जो आप इसके साथ विभावादि का यथोचित योग स्वीकार करते हैं। विभावादिसंयोग से स्थायी प्रतीत होता है तो संयोग का लिङ्गत्व अर्थ कार्य है। केवल हेतु के वाच्य होने पर भी साध्य की प्रतीति इष्ट है। जैसा कि कहा है –

तद्‌भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः।।

अतः यहाँ हेतुत्वेन विभावादि के उपादान से साध्यत्वेन स्थायी का बोध निर्विवाद है। जिसे आपने नहीं स्वीकारा है। सूत्र में स्थायि के अनुपादान से साक्षात् विभावादिका योग नहीं है। उसका योग होने पर स्थायी के लाभ के लिए संयोग का लिङ्गत्व अर्थ स्वीकार्य होगा अन्यथा अवगत्यनुपपत्ति होगी। अतः कहा है– "विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेः" इति।।

यदि रस से स्थायी को ग्रहण करे तो स्थायी भाव होने से भाव का रस से पूर्व अभिधान उपयुक्त होता कहा है– 'भावानां पूर्वाभिधेय–ताप्रसङ्गात्'।

यदि विभावादि से संयोग अर्थात् स्थायी का होने पर, उससे रसनिष्पत्ति होती है। तो संयोग का उत्पत्ति ही एक अर्थ करना चाहिए न कि प्रतीत्यादि जेसा कि मुनि ने कहा है – वीरो नामोत्तम–

प्रकृतिरुत्साहात्मकः। स चासंमोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रम–शक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते इति। पुनश्च स्थायिभावानुवादे तु, उत्साहो नामोत्तमप्रकृतिः। स चाविषाद– शक्तिसौन्दर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते इति। न चोत्पत्तौ विभावादिपदार्थानां कारणत्वमभिधाय, पुष्यतां पुनः तेषां, पोषोत्पत्तिकारणमभिधातव्यम् वैयर्थ्यापत्तेः। यतो हि रसलक्षणे विस्तरशो विभावा, भावलक्षणे अल्पशो विभावा, मुनिनोपात्ताः स्वयमेवोपचितत्वं रसलक्षणे प्रदर्शयन्ति। अतः पोषकत्वादिलक्षणवैयर्थ्यापत्तेः। अतः उक्तं "स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्" इति।

यदि अनुपचितावस्थ स्थायी को भाव, उपचितावस्थ स्थायी को रस स्वीकार करें तो एक एक स्थायीभाव का अनुपचितावस्थाघटक – मन्द मन्दतर मन्दतम, मन्दमध्य इत्यादि विशेष की अपेक्षा से अनन्तभेद होगा। और उपचितावस्थ घटक – तीव्र–तीव्रतर तीव्रतम आदि भी असंख्य होने से वही आनन्त्य दोष होगा। अतः कहा है – 'मन्दमन्दतर–मन्दतममन्दमध्याद्यानन्त्यापत्तेः" इति। माध्यस्थ्य इति पाठश्चिन्त–नीयोऽभिनवभारत्यां निर्दिष्टः।

यदि उपचयदिशा प्राप्त को ही रस कहें तो स्मित, अवहसित आदि की छः संख्या हास्यरस की कैसे होगी। अतः कहा है– 'हास्यरसस्य षोढात्वाभावप्राप्तेः। तथाहि, अभिलाषार्थचिन्तनानुस्मृति गुणकीर्तनोद्वेग–विलापोन्मादव्याधिजडतामरणेषु दशसु कामावस्थासु दशसंख्याताः शृङ्गाररतिभावादयः प्रसज्जेरन्। अतः उक्तं– "कामावस्थासु दशसङ्ख्य–रसभावादिप्रसङ्गात्" इति।

यदि प्रागवस्थाभाव स्थायी रस होता है तो क्रम से उपचित इस स्थल में भी विपर्यय दीख पड़ेगा। क्योंकि इष्टजन वियोग रूप विभाव से उत्पन्न महान् शोक क्रम से उपरमित होता है न कि दृढ़ता को प्राप्त करता है। क्रोध, उत्साह, रति का अपने–अपने कारण के बल से उद्भूत का भी कालवक्षात् क्रम से अमर्ष, स्थैर्य सेवाविपर्यय में अपचय दीख पड़ता है। जैसा कि कहा है– 'शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं, क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च'

शङ्कुकमत –

इस सूत्र की व्याख्या शङ्कुक इस प्रकार करते हैं विभाव हेतु

है यह नट द्वारा काव्यबल से अनुसंधेय है। अनुभाव कार्य है ये शिक्षा से अनुसंधेय हैं। व्यभिचारी, सहचारिभाव हैं ये कृत्रिम अपने अनुभव के अर्जन के बल से या अभ्यास से अनुसंधेय हैं। अनुकर्ता नटगत कृत्रिम होते हुए भी थे विभावादि, शब्द से कहे हुए हेतुओं मे कृत्रिमता अनभिमन्यमान होती है इनके संयोगरूप, लिङ्गबल से अनुमीयमान (प्रतीयमान) स्थायीभाव मुख्यरामादिगत स्थायी का अनुकरणरूप है अतएव अनुकरणरूप होने से रस नाम से कहा जाता है। इस प्रकार नटादिगत कृत्रिम हेतु आदि से गम्य नटादिगत कृत्रिम स्थायिभाव अनुक्रियममाण होने से रस होता है।

सूत्र में जो स्थायी उपात्त नहीं है उससे स्पष्ट है कि स्थायी सर्वथा अभिधेय नहीं है अपितु अभिनेय है अतः काव्यबल से भी अनु–संधेय नहीं है। अभिनेय होने से स्थायी का तथा उससे संयोग का लिङ्गलिङ्गिभाव रूप अर्थ स्पष्ट होता है। जो वाणी से उपस्थापित होता है वह अभिधेयता का अवगाहन करता है। जो वाचिक अभिनय से अभिनीत होता है वह तो अभिहित नहीं होता अपितु अभिनीत होता है। अतः वाणी ही वाचिक (अभिनय) नहीं है, अवगमन शक्ति ही तो अभिनय है जो वाचकत्व से भिन्न है। इसलिए –

"वाडवेनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते"

'शोकेन कृतः स्तम्भः' इत्यादि स्थलों में शोक अभिनेय नहीं है वल्कि अभिधेय है।

"भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या वाष्पाम्बुशीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि"।[१४]

यहाँ उदयनगत सुखात्मा रति स्थायीभाव अभिनीत है न कि अभिहित। अतः स्थायिपद, सूत्र में भिन्नविभक्तिक (व्यधिकरणत्वेन) भी नहीं कहा है। इससे कृत्रिम भी रति अनुक्रियमाण होकर श्रृङ्गार होती है। इस प्रकार श्रृङ्गार अनुक्रियमाण रत्यात्मक है या अनुक्रियमाण रति से उद्भूत है।

फिर कृत्रिमतया प्रतीत होने वाली रति मिथ्या होते हुए भी अनुक्रियमाण होने से सुखादि विशेष अर्थक्रिया को कैसे उत्पन्न करती है ? इसके उत्तर में कहते हैं – मिथ्या ज्ञान से भी अर्थक्रिया दृष्ट होती है। जैसा कि – मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।।

अर्थात् जैसे कोई दो व्यक्ति, अलग अलग मणिप्रभा एवं दीपप्रभा को देखकर यह मणि है इस बुद्धि से दौड़ते हैं। प्रभा दीप की हो या मणि की, वह मणि हो नहीं सकती इस प्रकार दोनो की प्रभाओं में मणिबुद्धि समानरूप से मिथ्या है किन्तु जो मणिप्रभा की ओर दौड़ता है उसे समीपस्थ मणि प्राप्त हो जाती है दीपप्रभा की ओर दौड़नेवाले को नहीं मिलती। अत: अर्थक्रिया के प्रति दोनो मे भेद दीख पड़ता है जब कि मिथ्या ज्ञान दोनों में समान ही है।

जो अनुकर्ता नट है वहाँ नट ही, सुखी राम है ऐसी सम्यक् प्रतिपत्ति नहीं होती है। और न ही यह ही, राम है ऐसी मिथ्या प्रतिपत्ति होती है। और न ही यह सुखी नहीं है, यह राम है या नहीं है ऐसी संशयात्मक प्रतिपत्ति, तथा न ही राम सदृश है ऐसी सादृश्यात्मक प्रतिपत्ति ही होती है। अपितु सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य प्रतिपत्तियों से विलक्षण जो राम सुखी है वह यह है' ऐसी चित्रतुरगादिवत् प्रतीति होती है। अत: कहा है—

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्वं न विपर्यय:।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि।
विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितविप्लव:।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभव: कथम्।।

इनके मत में मुख्य रामादिगत स्थायी अनुकरण रूप रस है। अनुकरण रूप होने से ही स्थायिभिन्न नामान्तरण का रस में व्यपदेश है।

शङ्कुकमत खण्डन —

यहाँ अनुकार क्या है ? अनु उपपद के दो अर्थ सम्भव है (१) सादृश्य और (२) पश्चात्। यदि सादृश्य अर्थ अनु उपपद का ले तों अनुकार का अर्थ होगा सदृशकरण। मुख्यरामादिगत सदृश करण किससे सम्भव है ? विभाव के अनुकरण से, अनुभाव के अनुकरण से, भाव के अनुकरण से, अथवा इस अनुमित रत्यादि से, मुख्य रामादि की रति के अनुकरण से। यहाँ अनुकरण भी सामाजिक के प्रतीति के अभिप्राय से, नट के अभिप्राय से, वस्तु के अभिप्राय से, व्याख्याता के बुद्धि के अभिप्राय से। नटादि के अभिप्राय से विभाव के सदृशकरण में तीन दोष है — (१) नाट्य हास्य के लिए होजायेगा। (२) नाट्य उपदेश प्रयोजन

के लिए नहीं होगा। (३) नाट्य में रामादि विभाव का प्रत्यक्षत्व न होने से अनुकरण कैसे होगा। यदि चित्तवृत्तिरूप रति के लिए नटगत अनुभाव को कारण माने तो वह भी नहीं मान सकते हैं। नटगत अनुभाव का बाह्यत्व जडत्व बाह्येन्द्रियग्राह्य होने से भिन्न अधिकरण में स्थित चित्तवृत्तिरूप रत्यादि के अतिवैलक्षण्य होने से कैसे (अनुभाव से चित्तवृत्ति का) अनृकरण सम्भव है। मुख्य अनुकार्य के अवलोकन से उसका अनुकरण प्रतिभास होता है किन्तु किसी को रामगत रति की उपलब्धि नही ही है। अतः रत्यनुकार सम्भव नहीं है। रामानुकार नट है यह भी प्रवाद निरस्त हो जाता है। और सामाजिकों में नट गत चित्तवृत्ति ही अवगत होती है। अतः यदि रत्यनुकाररूप श्रृङ्गार मानें तो प्रश्न होता है कि यह चित्तवृत्ति किसरूप में प्रतीत होती है। यदि प्रमदादि कारणों से कटाक्षादि कार्यों से धृत्यादि सहचारिभावों से जो लिङ्गभूत है उनसे जो लौकिकी कार्यरूपा, कारणरूपा और सहचारिरूपा नटगत चित्तवृत्ति प्रतीति योग्य है तो यही क्यों नही कहते कि रत्याकाररूप से ही सामाजिकों के हृदय में अवगत है रत्यनुकरणरूप कहने की क्या आवश्यक्ता अतः रत्यनुकार श्रृङ्गार है यह युक्ति उचित नहीं है।

अनुकार्य में विभावादि पारमार्थिक है। उसकी कारणता अनुकर्ता नट में वैसी नहीं है अतएव मत में प्रतीयमान कारणता ही रति के अनुकरण बुद्धि का कारण है तो यह प्रश्न होगा कि अतत्कारणादि रूप विभावादि जो काव्य शिक्षादि बल से उपकल्पित एवं कृत्रिम है, वह सामाजिकों से कृत्रिमतया गृहीत है या नहीं ? यदि गृहीत हैं तो कैसे उस मिथ्याभूत लिङ्ग से रति की अवगति है। अतः कह सकते हैं कि जैसे मिथ्या धूम सदृश नीहार से अग्निसदृश लाल जपा पुष्प समूह की अनुमिति नहीं होती उसी प्रकार कृत्रिम विभावादि मिथ्यालिङ्गज्ञान से रत्यनुकार रामादि रति की प्रतीति नहीं होती और न ही अनुमान ही कर सकते हैं।

यह राम है इस प्रतीति में सम्यकादि विरूद्ध बुद्धिभेद के लिए चित्रतुरगादिन्याय स्वीकृत है, वह भी युक्त नहीं है। नाट्यरङ्गकाल में यह राम है ऐसी प्रतिपत्ति होते हुए भी पश्चात्काल में प्रत्यक्षादि बाधक के जागरूक होने से क्यों नटात्मक तत्वज्ञान नहीं होता है। या यूँ कह सकते है कि बाधक प्रत्यक्षादि के सद्भाव होने पर क्यों नहीं 'यह राम है' यह

ज्ञान मिथ्या हो जाता है।

नाट्यदर्शन के समय जो नट में रामत्व का ज्ञान हो तो वह यदि उत्तरकाल में वाधक सद्भाव न हो तो ठीक है किन्तु जब प्रत्यक्षादि बाधक तत्त्व होते हैं तो यह ज्ञान मिथ्या हो जाता है यदि विना वाधक के भी रामत्वेन नट की प्रतीति करते हैं तो भी मिथ्या ज्ञान ही वस्तुत: है अत: विरुद्ध बुद्धि का संभेद (संमिश्रण) नहीं है ऐसा नहीं कह सकते।

नर्तक की तरह नर्तकान्तर में भी 'यह राम है' प्रतिपत्ति होती है। अत: रामत्व सामान्यरूप है न कि विशेष राम को अभेद की प्रतिपत्ति होती है। जो यह कहा है – विभाव काव्य से अनुसंधानित है, अनुभाव शिक्षा से। यहाँ अनुसन्धान कैसा है? नट की ममत्वेन प्रतीति नहीं है। यदि सामाजिक की ऐसी प्रतिपत्तिरित्यात्मक अनुसन्धान हो तो स्थायि का अनुसन्धान भी विना बाधा के ही है। इस प्रकार सामाजिक प्रतीति के अनुसार स्थायि का अनुकरण रस असत् है। ग्रन्थ में जो सामाजिक प्रतीति के अभिप्राय से प्रथमपक्ष उपस्थापित है उसे ही संक्षेप में कहने का प्रयास किया हूॅ।

नट के अभिप्राय से अनुकार के विषय में निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है– प्रथम तो यह है कि नट उस रामादि की प्रकृति को पहले प्राप्त नहीं किया है, जिसके समान वह अभिनय करता है। यदि पश्चात्करण को अनुकरण कहें तो लोक में अतिव्याप्ति होगी। यदि रामादि विशेष का त्यागकर केवल उत्तमप्रकृतिस्थ सामान्य का अनुकार मानें न की नाट्यविशेष का अनुकार, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अमूर्त होने से शोक का अनुकार शोक से नहीं कर सकते हैं। नट में शोक नहीं है फिर शोकादि का अनुकार कैसे सम्भव है? यदि शोक के अनुभाव अश्रुपातादि से शोक का अनुकार मानें तो वह भी सम्भव नहीं? क्योंकि अमूर्त का मूर्त से अनुकार सम्भव नहीं होता। इस प्रकार से कई कोटि में निर्वचन प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित हैं।

सांख्यमत खण्डन –

सांख्यदर्शनानुसार भी 'विभावानुभाव....' का सूत्रार्थ घटित नहीं होता है, क्योंकि यहाॅं विभावादि–सुखदु:खादि जननशक्तियुक्त, विषयसामग्री है। यह सामग्री मूलस्थानीय विभाव, संस्कारक अनुभाव तथा व्यभिचारिभावरूप हैं। इस सामग्री से उत्पन्न होने के कारण

सुखदु:खस्वभाववाली स्थायी आन्तरधर्म होगा। न कि केवल सुखस्वभाववाला हैं।

यहाँ दो अनुपपत्तियाँ दिखाई पड़ती है। जो कहा गया हैं। 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम:' १ यदि सुखदु:खस्वभाववाले आन्तर धर्म स्थायी है तो पुन: रसत्व मे उनकी प्राप्ति करने का क्या अर्थ है। रस और स्थायी में भेद है या नहीं। यदि अभेद है तो 'रसत्वमुपनेष्याम:' उक्ति असंगत है यदि भेद है तो सुखादिस्वभाववाला रस सुखादि सामग्री से जन्य होता है यह आप न कहें क्योंकी आपकी सामग्री सुखदु:खात्मक है और यदि यह कहें कि जो उस प्रकार सुखदु:खादि सामग्री से जन्य है वही रस है तो स्थायी को ही क्यों नहीं रस मान लेते रसत्व प्राप्ति कराने का क्या प्रयोजन । अत: इस सिद्धान्त मे विभानुभावादि....... सूत्र घटित नहीं हो पाता। और यदि कहें कि औपचारिक अभेद दोनो मे मानते हैं तो स्पष्ट ही है कि मुख्यत: भेद इनमें मानते ही है अत: दूसरों पर आक्षेप करना व्यर्थ है। २ हम केवल सुखात्मक रस स्वीकार करते हैं, आप सांख्यानुयायि सुखदु:खात्मक, यह प्रतीति वैषम्य स्फुट ही है। इस प्रकार ग्रन्थ में इसका स्पष्ट विवेचन हुआ है।

भट्टनायक मत –

भट्टनायक तो रस को न प्रतीत मानते हैं, न उत्पन्न मानते हैं, न अभिव्यक्त ही मानते हैं। काव्य में दोष का अभाव गुण तथा अलङ्कार का होना, नाट्य मे चार प्रकार के अभिनयरूप विभावादि साधारणीकरणात्मक अभिधा के द्वितीय अंशवाले भावकत्व व्यापार से भाव्यमान रस अनुभव स्मृत्यादि से विलक्षण, रज तम के अनुवेध वैचित्र्यबलवाले द्रुतिविस्तारविकासलक्षणों वाले सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंवित् विश्रान्त लक्षणवाले परब्रह्मस्वादवाले भोग से भुक्त किया जाता है। जैसा कि कहा है– अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।

अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती तत:।।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मत:।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नर:।। इति।

इसका सारांश यह है कि – अभिधा से विभावादि कारण प्रतिपादित होते हैं। अभिधा से उक्त विभाव यथाश्रुत रामादि की उपस्थिति होती है। बाद में अभिधा से द्वितीय अर्थात् लक्षणात्मक भावकत्वव्यापार से

सम्बन्धविशेष परिहारादिपूर्वक साधारणीकरणात्मा रसादि अनुकूल उपस्थिति होती हैं। इनसे स्थायी भाव्यमान होती है। फिर उससे अनुभवादि प्रमाण विलक्षण, रज आदि के अनुवेध वैचित्र्य से द्रुतिविस्तारविकासादि सत्वोद्रेकप्रकाशानन्द .... परब्रह्मस्वादतुल्य भोग से भुक्त होता है।

भट्टलोल्लट ने अभिधा से ही रामादि विभावों की उपस्थिति मानी है और उसी के साथ स्थायी का संयोग भी स्वीकार किया है। यहाँ अभिधा से केवल विशेषविभावादि की उपस्थिति होती है। पुन: साधा–रणीकरण के लिए अभिधा से भिन्न भावकत्व व्यापार उपात्त है। साधा–रणीकृत विभावादि के साथ स्थायी का संयोग होता है यही भेद है। अत: उसके दूषण के उत्थापन के बिना ही उसकी उपहति प्रदर्शित की गयी है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया है।

भट्टनायक मत खण्डन –

यहाँ शङ्का होती है कि – 'न प्रतीयते' यहाँ पर प्रतीति क्या है ? प्रतीति भोग भी हो सकता है, रस स्मृति भी हो सकता है। यहाँ प्रतिपत्ति ही नाम विशेष से कही जाती है न की प्रतीति। उपाय भेद से प्रतिपत्ति ही कही दर्शन शब्द से, कहीं अनुमिति शब्द से, कहीं उपमिति शब्द से, कहीं प्रतिभानादि शब्द से व्यवहृत होती है न कि प्रतीति। अत: प्रतीत नही होती है यह उक्ति असंमत है। न उत्पन्न होता है, न अभिव्यक्त होता है, इस उक्ति से रस की निष्पत्ति में नित्यता एवं असत्ता का निषेध ही प्रतिपादित होती है, किन्तु नित्यता असत्ता से अतिरिक्त तृतीय गति ही सम्भव नहीं है। और 'नप्रतीयते' कह कर न प्रतीत होता है। इत्यादि से, जो अप्रतीत हो वही रस है ऐसा ही कह सकते हैं क्योंकि अप्रतीत वस्तु शब्द व्यवहार के योग्य नहीं होती है। अत: न 'प्रतीयते', 'नोत्पद्यते' 'नाभिव्यज्यते' यह उक्ति समुचित नहीं होती है।

यदि 'न प्रतीयते' इत्यादि से 'भट्टलोल्लटशङ्कु के मत की उत्पत्ति अनुमितिरूप प्रतीति निषिद्ध है जो कि 'तद्रूपतानुसंधानात् नर्तकेऽपि प्रतीयमान रस:' अर्थात् नट में असत् भी सामाजिक द्वारा चर्व्यमाण रस होता है। यहाँ पर चर्व्यमाण का प्रतीयमानत्व, अनुमीयमानत्व रूप अर्थ उन उन उपायों के बल से प्राप्त होता है। उन अर्थों की प्रतीति निषिद्ध कर जो भोगीकरण रूप प्रतीति स्वीकार करते है वह भी समुचित नहीं है। नव रसों के लिए नवरसनात्मा प्रतीति भोगीकरण स्वभाव वाली होगी और

रजतम के अनुवेध[1] से सत्वोद्रेक की तथा रज, तम, सत्व, के अङ्गाङ्गि वैचित्र्य से रसों की अनन्तता भी होगी। अत: अभिधा भावना के साथ अनन्त भोग का योग होने पर भी व्यापार का त्रित्व है ऐसा नहीं कह सकते।

जो 'काव्ये भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रस:' काव्येन भाव्यन्ते रसा:' कहते हैं उनसे पूछता हूँ कि भावना क्या है। मुख्यार्थप्रतिपादक शब्दनिष्ठ अभिधा के समान है अभिधेयसम्बन्धात्मक लक्षणा के समान अर्थादिनिष्ठ है। या विभावादिजनितचर्वणात्मक आस्वादरूप प्रत्ययगोचरतापादन ही सामाजिक निष्ठ है। इन सभी का सम विवेचन ग्रन्थ में है।

अभिनवगुप्त का मत –

अभिनवगुप्त कहते है कि जो मेरे द्वारा उपस्थापित है उसे भी लोग दोषयुक्त कहेगें। क्योंकि संविद्विकास आम्नाय सिद्ध है। प्रमाण प्रमित में भी प्रमाणान्तर सहायता से नवीन तत्त्व को बोधृत्व या आगमित्व ही संविद्विकास है। अत: संविद्विकास होने पर अधिगत वस्तु मे ही अधिक तत्त्व बोधित हो तो अपूर्वतया विस्मय यहाँ नहीं होना चाहिए। क्योंकि अपूर्व का बोध ही संविद्विकास है। इसे किसी विद्वान ने किसी उपाय से जिस तत्व का विवरण किया है उससे इतर पूर्वोपाय का द्वन्द्वभूत स्वयं ग्राह्यग्राहकत्वरूप उपाय से, क्या लोग दूषित नहीं करेंगे? अथवा शतृलुट्तिप् प्रत्ययों द्वारा 'दूषयिता' पद सिद्ध होने से क्या दूषयिता लोक नहीं होगा।

अत: उपायदर्शक आचार्यो के रसविषयक जो मत है उन्हे मैं दूषित नहीं कर रहा हूँ अपितु सम्यक् विमर्श पूर्वक शोध कर रहा हूँ। पूर्वप्रतिष्ठित विचारों में मूलप्रतिष्ठा ही फल माना गया है। मुनि ने मूल प्रतिष्ठाफलरूप, शुद्धतत्व को कहा है– 'काव्यार्थान् भावयन्ति। इससे काव्यार्थ ही रस, सिद्ध होता है। अत: काव्यार्थ ही विमर्शनीय है।

(१)काव्यविशेषण से अन्यार्थ की अपेक्षा काव्यार्थ की अधिकता की प्रत्तिपत्ति होती है। यह काव्यार्थ अभिधेयार्थ के समान नहीं है अपितु सकल काव्यसारभूत सद्य:परनिर्वृतिरूप परम प्रयोजनात्मक है। काव्य और काव्यार्थ में जो वृत्ति, जो उपाय है वे भी लौकिक स्मृति अनुभव आदि से विलक्षण है।

(१) विभावादि विघ्नापसारक है, वहाँ जो व्यापार सम्पूर्ण विघ्न विनिर्युक्त संवित्तिरूप है उसमें सम्भावनाविरहरूप अयोग्यता का नाम विघ्न है। यह विघ्न स्वगत परगतत्व नियम देश विशेष से आवेशित होकर निजसुखादि का विवशीभाव प्रतीति उपाय की विकलता या स्फुटत्व का अभाव, प्राधान्याप्राधान्य का संशययोग अर्थात् (निर्वेदादिस्थायिभावों के प्रधान्य और अप्रधान्य मे संशय विघ्न है।)

यहाँ काव्यार्थ के अधिकता की प्रतियत्ति 'रात्रिमासत' 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादि वाक्यार्थ की तरह मानना चाहिए। इसका विस्तृत विवरण ग्रन्थ में देखे।

इस प्रकार 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं' 'उमापि तोलालक' 'हरस्तु किंचितपरिवृत्त-धैर्य' इत्यादि वाक्यों द्वारा वाक्यार्थ प्रतिपत्ति के अनन्तर, उन उन वाक्यों मे उपात्त विशेष को तिरस्कृत कर कालादि विभाग साक्षात्कारात्मिका मानसी प्रतीति होती है।

मृगपोतकत्रासादि अपारमार्थिक होने से विशेष रूपे देश काल से अनालिङ्गित केवल भय की प्रतिपत्ति होती है। अत: 'भीतोऽहम्' 'भीतोऽयम' इत्यादि आत्मपरगतत्वादि विघ्न से रहित निर्विघ्न प्रतिपत्तिग्राह्य, साक्षात् हृदय में निविष्ट विपरिवर्तमान भय ही भयानक रस कहा गया है।

इस प्रकार के भय में आत्मा या स्वभिन्न कोई न ही अत्यन्त तिरस्कृत न ही विशेष उल्लेखनीय ही है। अत: साधारण्यवश परिमित नहीं, अपितु धूमाग्नि व्याप्ति ग्रह की तरह विस्तृत है। यहाँ जो नटादि सामग्री है वह साक्षात्कारायमान साधारण भय कम्प की केवल पोषक होता है। नटादिसामग्री अन्योन्यप्रतिबन्धबल से काव्यार्पित देश काल प्रमातादि में नियम हेतु के अत्यन्त अपसरण के कारण उक्त साधारणी-भाव से शीध्र ही रस पोषित होता है। इस प्रकार रस परिपोष के लिए सभी सामाजिको की एक तरह ही प्रत्तिपत्ति है। सभी अनादिवासना-चित्रीकृतचित्त वालों का, वासना संवाद है। जैसा कि कहा है -

अविघ्ना सा संवित्ति:, तया च चमत्कार:। चमत्कारस्तु भुञ्जानस्याद्-भुतभोगाविष्टस्य मन:करणम्। स साक्षात्कारस्वभाव:, मानस्या अध्यवसायेन सङ्कल्पेन स्मृत्या वा येन केनाप्युपायेन केनापि स्वीक्रियेत, किन्तु स सर्वोऽपि उपाय:, लोकविलक्षण: काव्यार्थगतसंवित्तिरूप: स्वीकर्तव्य:। इत्थं काव्यकाव्यार्थयोर्य: सम्बन्ध: संवित्तिरूप:, स सर्वथा लोकविलक्षण:। यथा-

रम्याणि............।

यहाँ जो स्मृति दीखाई पड़ती है वह संवित्ति ही है क्योंकि 'स्मरतीति' से उपदर्शित जो स्मृति है, वह तार्किको में प्रसिद्ध नहीं है। यंह आस्वादरूप है, रति ही (साधारणीभूत) प्राप्त है वहीं से उपहित होने से वह रसनीय है। न लोकिक है न तदारोपादिरूप है। कहा है – सा चाविघ्ना ....।

यह प्रतिभानापरपर्यायरूप संवित्ति, अनुकार रूप भी कह सकते हैं, जो देशादि से अनियन्त्रित होने से 'उपचयावस्था प्राप्ता अनुक्रियमाणा रतिरेव रसः' इस शङ्कुक मत के अनुसार ही है। किन्तु वह अनुकार न सदृशकार है न ही पश्चात्कार है। और भी सुखदुःखादि कैर्भावस्तद्भाव– भावनम्' इति इस भावक चित्त में सुखादि वासना से सांख्योक्त सामग्रीरूप भी होवे, किन्तु करणादिभावानुगामितया है न कि जनकतया। इस प्रकार विज्ञानवाद के अनुसार भी भावानुगामितया विषयसामग्रीरूप रसनीयसंवित्ती होवे। सर्वथा संवित्ति से अभिन्न रसनात्मक वीत विघ्न प्रतीतिग्राह्य भाव ही रस है।

'काव्यार्थो रसः' यहाँ पर जिस प्रकार शास्त्र में अपदार्थ भी संसर्गादि, पदार्थान्वय रूप एक वाक्यार्थ में दृष्ट होते है जब कि पदार्थावस्था में विलीन दिखता है उसी प्रकार विभावादि पदार्थों से संसृष्ट पदार्थावस्था में होन अदृष्ट भी स्थायी का वाक्यार्थ रसावस्था में अन्वय होता है। जैसा कि कहा है –

संसर्गादिर्यथा शास्त्रे एकत्वात्तलयो गतः।
वाक्यार्थस्तद्वदेवात्र शृङ्गारादिः रसो मतः।।

काव्यशब्दों का अन्वयव्यतिरेक द्वारा निरतिशयसुखास्वाद के विना प्रयोजनान्तरानुयलब्धि है अतः स्वानद्रोद्भूति ही कार्यत्वेन ग्रहण करते हैं। उसकी अनुभूति के निमित्त में विभावादि संसृष्टस्थायी को ही लेते है। यहाँ विभावादि पदार्थस्थानीय है उससे संसृष्ट रत्यादि वाक्यार्थ है। अतः कह सकते हैं कि जिसका यह काव्य वाक्य वे यही पदार्थ तथा वाक्यार्थ है।

पदार्थ वाक्यार्थ ये दोनों रस में ही पर्यवमित है इस असाधारण्य प्राधान्य से काव्य का अर्थ ही रस है। यहाँ प्राधान्यरूप से जो अर्थित है वह अर्थ देते हैं न कि अर्थ शब्द अभिधेयवाची है। रसादि का स्वशब्दान–

भिधेयत्व ही प्रदर्शित है। पहले स्थायी आदि प्राप्त होते है फिर सर्व–साधारणतया आस्वादित होते हैं। वह पूर्वागमगोचरीभूत स्थायि आदि, उत्तरभूमिकाभागी आस्वाद्य रस का भावक या निष्पादक कहा जाता है। इस कारण से काव्यार्थ रस है।

विघ्नों में चमत्कारनिर्वेशरसना आसास्वादन भोग समापत्ति, लय विश्रान्तादि शब्दों से अभिधीयमान, सकलविघ्नों से निर्मुक्त सवित्ति में योग्यतारूप सम्भावनाविरह, प्रथम विघ्न है। स्वगत्व परगतत्व भेद से देशकालविशेष से आवेशित निजसुखादि विवशीभाव पूर्व में निर्दिष्टकिया गया है।

यहाँ पतिपत्ति में अयोग्यता के कारण असम्भव संवेध रूप, संवेद्य में संवेद्यत्व का विनिवेश ही नहीं कर सकते, विश्रान्ति की वार्ता ही क्या करें यह पहला विघ्न है। विघ्न के हटाने में हृदयसंवाद जो लोक सामान्यवस्तु विषयक है उसकी अपेक्षा होती है।

और स्वगत मानने पर का सुखदुःखसंविद् के आस्वाद में यथासम्भव उसके हटने की भीरूता, उसकी परिक्षा की व्यग्रता, उसके सदृश अर्जन की इच्छा, उसके जानने की इच्छा, या उसके गोपन की इच्छा, या प्रकारान्तर से अन्य संवेदन के समुदगम से परम विघ्न सम्भावित है। परगतत्वनियमस्वीकार करने वालों की भी सुखदुःख के संवेदन में नियम से अपनी आत्मा में सुखदुःखमोहमाध्यस्थ आदि अन्य सविद् के उद्गम की सम्भावना से विघ्न अवम्भावी है। इस प्रकार स्वगतत्व परगतत्वरूप से रसास्वाद मे विघ्न के हेतु का नियम दिखाई पड़ता है। इन विघ्नों के अपसारण का विशद। विवेचन ग्रन्थ में है।

उपरोक्त विघ्न त्रय जो कहा है उस भेदोपभेद पूर्वक विस्तृत विवेचन और उसके अपसरण के उपायों का निर्वचन ग्रन्थ में बहुत ही सरलता से निबद्ध है।

व्यभिचारी एवं स्थायी में कौन प्रधान तथा कौन अप्रधान है क्यों कि एक ही विभावादि स्थायी तथा व्यभिचारी दोनो को व्यक्त करते है इस संशययोगरूप तृतीय विघ्न के समाधान में कहते हैं कि व्यभिचारी की अपेक्षा स्थायी प्रधान है क्यों कि इसका जन्म से सम्बन्ध है, संस्कारशेष के रूप मे हमेशा रहता है स्फटिकरूप व्यभिचारी का आश्रय सूत्ररूप स्थायी है। इस प्रकार विभावादि के विना स्थायी की सत्ता होती है

व्यभिचारी की विभावादि सापेक्ष के विना नही हो सकता संस्कारवश जन्म से ही जीव इन संविद्गणों से घिरा हुआ होता है, दुःखनिराकरण सुखास्वसदवश सब में रिरंसा अपने उत्कर्षाभिमानवश दूसरों का उपहास, इष्टवियोग से दुःख, दुःख हेतुओं मे कोप, आशक्ति होने पर भय, अर्जन की इच्छा से उत्साह, अनुचितदर्शन से जुगुप्सा, लोकोत्तरदर्शन से विस्मय, तथा सर्वपरित्याग की इच्छा से शम सभी जीवमात्र में देखे जाते हैं। इस प्रकार रति हास शोक क्रोध भय उत्साह जुगुप्सा विस्मय तथा शम चित्तवृत्ति से युक्त ही जीव होता है किसी में अधिक संविद् होती है किसी में कम।

व्यभिचारि ग्लानिशङ्काप्रभृति चित्तवृत्ति विशेष तो सुमुचितविभाव के विनाजन्म के मध्य में भी नहीं होते है। रसायन का उपयोग करने वाले मुनि को ग्लानि आलस्य आदि नहीं होते हैविभावादि के क्षीण होने पर इनकी संस्कारशेषता भी नहीं रहती। किन्तु रत्युसाहादि स्वकर्तव्य पूर्ण कर लेने पर प्राचीनकल्प होकर भी संस्कार शेषता को धारण करते हैं क्योंकि कर्तव्यान्तरसम्पादन के समय भी उत्साहादि का खण्डन नहीं देखा गया है। जैसा कि पतन्जलि ने कहा है– चैत्र का एक स्त्री में अनुराग कहने से वह अन्यों में विरक्त है ऐसा नहीं है। इस प्रकार विभावादि निरपेक्ष स्थायि के जन्म की सत्ता प्रदर्शित की गयी है।

तस्मादिति' इस सन्दर्भ से स्थायी में व्यभिचारिभावों का आश्रितत्व स्थायी उदयास्तमनधर्मत्व, स्थायि का उपकृतत्व विचित्रार्थपोषण से स्थायिप्रतिभास के लिए उपकर्तृत्व, अपनी छाया से स्थायि का चित्रीकरणत्व प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार 'काव्यार्थों रसः' इस उक्ति में अर्थ का रसमात्र अर्थ है उस अर्थबोध के लिए जो वृत्ति है वह संवित्ति है या चर्वणा ? यह चर्वणा पूर्व प्रमाणों के अभाव के कारण न स्मृति है न लौकिक प्रत्यक्षादि है, न अनुमिति है, और न ही युञ्जानयोगी, युक्तयोगी के संवित्ति का ज्ञान है, न तटस्थ प्रतीति है विषयावेशवैवश्य प्रतीति के अभाव से, न स्वात्मगत प्रतीति है। सकल विघ्नशून्य प्रतीति चर्वणा या संवित्ति देखी जाती है। यह संवित्ति या चर्वणा रसना है। विभावादि के संयोग से रसना की ही निष्पत्ति होती है न कि रस की नही तो विभावादि के अपगम में भी 'रस की निष्पत्ति अवस्था में रस सम्भव होता। सिद्ध किसी रस

के अभाव होने से ज्ञप्ति उत्पत्ति के हेतु रूप में विभावादि का अग्रह ही है। विभावादि व्यवहार तो अलौकिक चर्वणोपयोगिता मे ही स्वीकार्य है।

इस प्रकार रस प्रमेय स्वभाव वाला नहीं है। निष्पत्ति के कथन से रस का रसना, यह अर्थ कार्य है। इससे रस का अविनाभावसम्बन्ध होने से निष्पत्ति में भी दोष नहीं है। इस प्रकार रसना से गोचर लोकोत्तर अर्थ 'काव्यार्थ: रस:' है यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

लौकिक अनुमान से संस्कृत प्रमदादि, तटस्थतया प्रतीत नहीं होते अपितु तन्मयीभावोचित चर्वणा प्राणतया प्रतीत होते है। यहाँ रसास्वाद के लिए, चर्वणा के निष्पादन के लिए, उपायभूत अङ्कुरस्थानीय भावना अनुमान स्मृति आदि लौकिक प्रमाण भी अभ्युपगन्तव्य है, किन्तु इनकी साक्षात् रसास्वाद मे योग्यता नहीं है। न ही चर्वणा, पूर्व अनुभवजन्य संस्कार से होती है, जिससे स्मृति होगी और न ही लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण का व्यापार चर्वणा है। विघ्नादि के उदय के अभाव होने से। यहाँ स्वात्मगतत्व परगतत्व से किसी नियम के असम्भव से नियमानध्यवसाय से उस विभावादि साधारणीवश संप्रबुद्धाचितनिजरत्यादि वासनावेश से विघ्नान्तर सम्भव नहीं है। साधारणी भावना भावकत्वव्यापार से नहीं अपितु विभावादिगतभावन से ही बोध्य है।

सभी प्रमाण अप्रमित होने से रस अप्रेमय है क्या? 'रसनिष्पत्ति:' इस सूत्र में इसका अर्थ रसना की निष्पत्ति, ग्राह्य है रसना का यहॉ कायतत्व होने से या अविनाभाव से रस की भी निष्पत्ति उपचारत: स्वीकारना चाहिए। इस प्रकार स्वसंवेदन सिद्ध होने से प्रमाण कारकों के विलक्षण में भी रसना की अप्रामाणिकता नहीं है। अपितु विभावादि उपायादि विलक्षणता से लौकिक बोधस्तरों का यह विलक्षण बोधरूप रसना है। इससे प्रकाशित (गोचर) लोकोत्तर अर्थ रस है ऐसा सूत्र का अर्थ है। गोचर होता हुआ भी यह विषयत्व नहीं है।

विभाव मात्र के उपादान में भी अनुभाव आदि गुणतया प्रत्यय होने से और अनुभाव आदि के उपादान में विभावादि गुणतया प्रत्यय होने से विभावादिगत विभावनादिसाधारणीकरण व्यापार से साधारणीभूत रति एक ही संतानवृत्ति की संवित्तिगोचरभूत श्रृङ्गार होता है।

वस्तुत: श्रव्यकाव्य शब्दात्मकत्व होने से एक के उपादान में अवशिष्टों का उपादान अर्थवल से सहृदय मानते हैं। किन्तु नाटकादि दृश्यों में एक

का भी शब्दत: उपादान में अवशिष्ट दो का अभिनय वल से प्रत्यक्षीकरण साक्षात् होता ही है। जैसा कि कहा है – 'सन्दर्भेषु दशरूपकश्रेय:'

दृष्टान्त का उपन्यास करते हैं – 'को दृष्टान्त:'। वहुतो के संयोग से अपूर्वरस उत्पद्यमान होता है 'क्वदृष्ट' इति 'को दृष्टान्त' का अर्थ है इस प्रश्न का प्रतिवचन इस भाष्य में देते है – यथाहि – 'नानाद्रव्य .. स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। इसका विशद विवेचन ग्रन्थ में यथास्थान देख सकते है।

वस्तुत: संक्षेप में कह सकते है कि स्थायी जो अनुक्त है उसका विभावादि पञ्चम्यन्त के साथ सम्बन्ध है। यहाँ तो सभी साधारणीकृत विभावानुभावव्यभिचारिस्थायी के संयोग से (ल्यप्लोपे पञ्चमी) संयोग का आरूढ़ होकर रस यह अर्थ है। यहाँ वमुन्तयोग का ही प्राधान्य भावनिर्देश से है न कि वस्तु का। अत: क़हा है रस अनुमेय है, शायद यह युक्त हो सकता है।

रस की निष्यत्ति रसना की निष्पत्ति है। रसना का भावरूपत्व है। काव्यनिष्ठ विभावादि अर्थ और स्थायि वासनात्मतया स्थित होते है। सहृदयहृदयनिष्ठ है कैसे इनका एकाधिकरण्य संयोग के लिए है यदि यह कहे तो विभावादि का सम्बन्ध–विशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायास–साधारण्य प्रताति होने से सहृदयनिष्ठ है। साधारणीकर्ता में यहाँ कौन सा व्यापार है ? यदि भावकृत है तो काव्यीयव्यापार का शब्दार्थनिष्ठत्व प्रसिद्ध होने से भावकत्व व्यापार अयुक्त है। तो फिर साधारणीकरण कैसे है भावना से है किन्तु विभाव की भावना से है। जब विभावादि सहृदयहृदय प्रविष्ट होते है तभी उस सहृदयतासहकृत विभावादि में विभावनादि व्यापार साधारणीकरण के लिए स्वयम् ही उत्पन्न होता है।

सहृदयविशेषनिष्ठ स्थित स्थायी का वासनात्मतया कैसे साधारणीकरण है। साधारणीकृतविभाव आदि के व्यञ्जनव्यापार का प्रादुर्भाव होता है। उससे अज्ञानावरणात्मकपरिमितप्रमातृत्वादि का विगलन होता है तथा स्थायी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकृत सभी साक्षिभासों का संयोग ही चर्वणा रसना है। उसकी निष्पत्ति रस है। वस्तुत: इस व्यञ्जन से रसाभिव्यक्ति नहीं है, किन्तु रसनिष्पत्ति के लिए सभी के मत में स्थायी की ही प्रधानता है उसके अभिव्यक्त होने से रस भी व्यक्त होता है न उपचारत: और न ही साक्षात्। अत: मम्मट ने कहा है –

संकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राण: विभावादिजीवितावधि: इति।

अभ्यासनिपुण लोगों के सम्बन्ध से विभावनादि व्यापारवान होने से अलौकिक विंभावादि शब्दव्यवहार्य है (साधारणोपायवलाद्) इसका अर्थ 'साधारणीकृतविभावादिजन्यव्यञ्जन व्यापारोपाय बल से लेना चाहिए।

क्या सभी साक्षिभाष्यों का योग ही रस है या योगरूढ़ होकर रसनिष्पत्ति, ही पञ्चमीविभक्ति का सार्थक्य है? कहते हैं सहृदयस्थ विभावादि का साधारणीकरण तमरजगुण के अभिभव से सम्यक् रस विरोधिविघ्नोपपादक अनौचित्यादि के परिहार से सत्वोद्रेक योग होता है। अत: योग समकाल ही रसना का प्रादुर्भाव होता है पश्चात् काल में प्रकाशानन्दमयसंवितपरविश्रान्ति होने पर रस होता है। संयोग जब तक नहीं है तब तक परविश्रान्तित्व नहीं है। बोध से उपहितस्थायियोग तो रसना, चर्वणा ही है। अत: अभिनवभारती में कहा है। रसना की निष्पत्ति ही रस है। यहाँ निष्पत्ति का अर्थ परिपाक है।

रसना तो बोधरूप ही है। किन्तु बोधान्तरलौकिकों से विलक्षण ही है विभावादि उपायो का लौकिकवैलक्षण्य होने से। उससे विभावादि संयोग से रसना, जहाँ निष्पादित होती है वही चिदानन्दरूप रसना यह लोकोत्तर अर्थ है। रस है ऐसा सूत्र का तात्पर्य है। 'रसनागोचर:' यहाँ गोचर विषय एक है रसना का हेतु अपर फल है। बोधका फलरूप परविश्रान्तिचिदानद्ररूप रस ही सम्भव है। रसनिष्पत्ति – रसना की निषपत्ति यह परिपाक ही रस है।

नाट्यरसा: इसमें आदि के मतों (भट्टनायक भट्टलोल्लट श्रीशङ्कुक) में 'नाट्यस्यरस:' अन्त्यमत (अभिनवगुप्त) में तो 'नाट्यात् रसा:' ऐसी व्युत्पत्ति है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त का गूढ़तम विस्तृत मत, इस ग्रन्थ में अत्यन्त ही सरल व सहज भाव से ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् काव्यप्रकाश के रससूत्र व्याख्यान के चारों मतों की गूढ़ ग्रन्थियों का स्फोरण भी इस ग्रन्थ में निबद्ध है।

वस्तुत: रससूत्र में विभाव रत्यादि स्थायी के कारण है, ये लौकिक व अलौकिक है, अनुभाव रत्यादि स्थायिभाव के कार्य है ये भी पूर्ववत् लौकिक व अलौकिक है। व्यभिचारिभाव सर्वथा अभिव्यङ्ग्य होने वाले

है और उसी प्रकार उन उन विभावादि से सम्बद्ध है। संयोग का अर्थ जनकत्व, प्रत्यायकत्व, पोषकत्व, गम्यगमकत्व, भावकत्व, व्यञ्जकत्व आदि है। स्थायि भी कहीं रत्यादिमात्र और कहीं स्थायिमात्र होती है। इस प्रकार रस दो प्रकार का है लौकिक व अलौकिक। अलौकिक रस भी दो प्रकार का है सिद्ध और साध्यरूप होने से। सिद्धत्व भट्टलोल्लट, शङ्कुक, व भट्टनायक के मत में है, अभिनवगुप्त के मत में 'साधारण्येन स्वाकारवदभिन्नोऽपि गोचरीकृत:' इत्यादि से साध्य रूप वाला है। अलौकिक रस सभी के मत में सहृदयास्वाद्य ही है। लौकिक रस तो रामादिनिष्ठ और नटादि निष्ठ भी है।

इस प्रकार सूक्ष्म विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने मम्मट की रस का प्रतिपादन करने वाली कारिका का इन चार मतों के अनुसार अलग—अलग समन्वय किया है। तथा कई गूढ़ प्रश्न को समाहित किया है। जैसा कि— 'व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायी भावो रस: स्मृत:।' यहाँ 'तैर्विभावाद्यै:' इस पद से यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'तै:' पद से पूर्वोक्त विभावादि का ग्रहण हो जाने पर पुन: 'विभावादि' का शब्दत: ग्रहण करने से पुनरूक्त दोष प्रतीत होता है। ऐसे ही अनेक प्रश्न का उद्घाटन व समाधान यथास्थान इस ग्रन्थ में है।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने नवीन शस्त्रसम्मत स्वरचित लक्षणोदाहरण द्वारा रस भाव रसाभास, भावाभास, भावशान्ति भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता का भेदोपभेद पूर्वक विवेचन किया है। इन्ही आठों को लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम में 'वसु' शब्द उपात्त है।

अन्त में रस का नाट्यादि में बोध कराने वाली वृत्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म विवेक किया गया है – ये वृत्तियाँ है अभिधा, लक्षणा व्यञ्जना तात्पर्या भावना, रसना। इस सभी वृत्तियों के गम्भीर शास्त्रीय (मम्मट, जयदेव दीक्षित, पण्डितराज आदि आचार्यों के) मतों की उपस्थापना तथा यथोचित समर्थन, और समालोचना दिखलायी गयी है।

विद्वद्ज्ञानानुरागी
शशिकान्त द्विवेदी

विषयानुक्रमणिका

आचार्यश्रीचन्द्रमौलिद्विवेदिविरचितः
रसवसुमूर्त्तिः

....

अनिदमिति निषेधे मूलतत्त्वं यदीयं
श्रुतिसुमतिभिरुक्तं सद्रसो वै शिवः सः।
द्रुहिणमुनिहृदिप्राकाशि ऋक्सूत्रबद्धं
तदिह विवरितुं कः स्यात्क्षमः चेन्न शेषः।।

इत्थं नाट्यरस इत्याधारीकृत्य बहुधा आचार्यैः प्राक्तनैरर्वाचीनैश्च न्यरूपि निरूप्यते च। तत्र किं नाट्यम्, के च सूच्य-दृश्यश्रव्यंवस्तुनीति किञ्चित्प्रस्तुत्य रसविवेकः प्रस्तोष्यते।

तत्र नटनीयमनुकरणीयमिति नाट्यम् दशरूपकम् इति अभिनवः। अवस्थानुकृतिर्नाट्यमिति दशरूपकम्। नाट्यमेव रूपकम्, प्रेक्षकैर्दृश्यत्वादथवा मुखे चन्द्रारोपवत् तदारोपात्।

नाट्यव्युत्पत्तौ या अनुकृतिरारोपो वा, स शब्दात्मको वा शब्दात्मताव्यतिरिक्तः। नाट्यस्याशब्दात्मकत्वमिति केचित्। अन्यथा "य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदम् इति", 'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि' इत्यादेश्चासंगतिः स्फुटैव स्यात्। यतो हि नाट्यशब्देनैव नाट्यशास्त्रस्य संग्रहो भवेत् कुतो नाट्यस्य विशेष्यतया शास्त्र-वेदादिपदानामुपादानम्। तदुपादाने नाट्यस्याशाब्दात्मकत्वं स्पष्टं भवति। अत एवोक्तम् भावप्रकाशे।

रामादितादात्म्यापत्तिर्नटे या, नाट्यमुच्यते।
रूपकं तद् भवेद्रूपं दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम्।।[१]
रूपकत्वं तदारोपात्मकमारोपवन्मुखे ।। इति।

एषु तादात्म्यापत्तिः, दृश्यत्वं, आरोपश्च ज्ञानात्मकत्वात् तैः शब्दात्मकत्वं निराक्रियते। अभिनवभारत्यामपि "नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि" इत्यस्य व्युत्पादनायां नाट्यञ्च तच्छास्त्रञ्च इति

व्युत्पत्तिप्रदत्वात् प्रवक्ष्यामि व्याख्यास्ये। नाट्यस्य वेदं लक्षणतो निरूपयिष्ये इत्यर्थः। अत्रैव शङ्कते।

(नाट्यस्य–) शब्दात्मताव्यतिरेकेण प्रवचनायोगात्। नाट्यस्य चाशब्दात्मकत्वात्। निरूपणमात्रे प्रवचने, ग्रन्थस्यापि प्रवचनोपपत्तेः। नाट्यस्य च प्रोच्यमानतयैवालाक्षणिकबाह्यस्वरूपनिरासलाभे शास्त्रशब्दानर्थक्यप्रसङ्गात्। ''य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदम्'' इतिशास्त्रान्ते यद्वक्ष्यते तस्यासङ्गत्यापत्तेः। शब्दविषयताव्यतिरेकेण शृणुयादित्यस्यावाचकत्वात्।[२]

अन्येतु – नटनीयमनुकरणं दशरूपकं नाट्यम् तस्येदं शास्त्रं। दशरूपकलक्षणमेव दृश्यम्। एवं दशरूपकं कविना कार्यम्। एवं नटनीयमिति ग्रन्थतात्पर्यात् रसादीनां पदार्थानां तत्रैव पर्यवसानात्।[३]

उभाभ्यामुदाहरणाभ्यां नाट्यस्याशब्दात्मकत्वं वा शब्दात्मकत्वमुभयात्मकत्वं वा विचारणीयमस्ति। तयोः प्रथमोद्धरणेनाशब्दात्मकत्वं द्वितीयोद्धरणेन दशरूपकाभिन्नत्वात् नाट्यस्य शब्दात्मकत्वमपि सुवचो भवति।

तत्र नाट्यं कत्यङ्गम्। नाट्ये रसा भावा अभिनया धर्मी वृत्तिः प्रवृत्तिः सिद्धिः स्वरा आतोद्यं गानं रङ्गश्चेति संगृहीतम्। यथोक्तम्-

नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसंग्रहम्।
रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः।।[४]

एतस्मिन् नाट्यसंग्रहे रसस्य वाक्यार्थत्वं भावस्य पदार्थात्मकत्वं आचार्यैर्निर्दिष्टम्। तत्रोभयत्र शब्दात्मकत्वं कथञ्चित् घटितुं शक्यते। कथञ्चित् इत्यनेन एतद्वक्तव्यं भवति, यद्वाक्यार्थात्मकत्वं तत्र शब्दस्यावश्यम्भाविता। यत्र पदार्थाभिव्यङ्ग्यभावात्मकत्वं तत्र काव्यात्मकनाट्येषु तदितरेष्वपि नृत्यादिषु नाट्येष्वपि दृग्गोचरीभवति। अतः शब्दाशब्दात्मकत्वमुभयमपि नाट्ये दृश्यते। अभिनयेष्वपि वाचिकाभिनये शब्दात्मकत्वं तदितरेषु अशब्दात्मकत्वं अस्त्येव। एवमेव धर्म्यादिष्वपि क्वचित् शब्दात्मकत्वं क्वचिदर्थात्मकत्वं भवति।

इत्थं नाट्यं द्विविधम्- दृश्यं श्रव्यञ्च। यदत्र श्रव्यं भवति तन्न केवलं श्रव्यमात्रमपितु दृश्यश्रव्यात्मकं मन्तव्यम्। यच्च केवलं दृश्यं भवति तन्नृत्यादि नाट्यान्तर्गतमेव। काव्यत्वं दृश्यश्रव्यात्मकत्वे तिष्ठति दृश्यत्वमात्रत्वं तु काव्येतरे नृत्यादाविति। अकाव्यात्मक-रागादिनाऽपि काव्यात्मकरूपकादिनापि च रसोऽभिव्यज्यते। अतो रसभावात्मकं नाट्यं निर्दिश्यते।

ननु कथं नाट्यं काव्याकाव्यात्मकत्वेन द्वैविध्येन विभजते। सर्व खलु नाट्यं दशरूपकात्मकम्। दशरूपकेषु नाटकादिषु सर्वत्र काव्यत्वमस्त्येव। अत: काव्यापरपर्यायमेव नाट्यमिति स्वीकर्तव्यम्। यथोक्तं पूर्वम् नाट्यमनुकरणीयम् तद् दशरूपकात्मकमिति। उच्यते केवलेषु सिद्धिस्वरातोद्यगानरङ्गादिष्वपि काव्यत्वापत्तिः। न च रूपकाङ्गत्वेन रूपकस्य काव्यत्वादेतेषामपि काव्यत्वं सुतरां सिद्धमेव कथमत्राकाव्यता दृश्यते। न हि सर्वत्र रूपकाद्यङ्गतयैवैतेषां स्थितिरपितु स्वतन्त्रतयाऽपि। अत: उक्तम् पण्डितराजेन - ''यत्त्वास्वादोद्बोध-कत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहु: तन्न। रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिक-संमतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः। किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्वापत्तिर्दुर्वारैव'' इति।[5]

एतेन स्पष्टमस्ति यद् नाट्याङ्गानि सर्वाणि न काव्यत्वेन स्वीकृतानि। अतो नाट्यं द्विविधं काव्यमकाव्यञ्चेति। शब्दप्रतिपाद्यत्वेऽस्य काव्यत्वमर्थमात्रप्रतिपाद्यत्वे अकाव्यत्वमिति। ननु नाट्यं काव्यमकाव्यमिति इत्यनुक्त्या नाट्यं दृश्यं श्रव्यञ्चेत्युक्त्या काव्यस्यापि दृश्यश्रव्यत्वभेदेन द्वैविध्यात् कथं नाट्यकाव्ययोर्भेदोपलब्धिरिति शङ्कायां जागरितायां किं समाधा-नमिति चेदुच्यते- नाट्यं दृश्यं श्रव्यमिति उक्त्या, क्रमेण नाट्यस्य केवलं दृश्यत्वानुकूलाङ्गिकाभिनयपात्रत्वं, दृश्यत्वसमानाधि-करणश्रव्यत्वानुकूलाभिनयविशिष्टपात्रत्वञ्च गृह्यते। काव्यस्य दृश्यत्वं दृश्यत्वसमानाधिकरणश्रव्यत्वानुकूलवाचिकाभिनयपात्रत्वं, श्रव्यत्वञ्च

केवलं शब्दात्मकत्वं विवक्षितमिति मन्तव्यम्।

अर्थात् तत्रैव रूपकादिषु दृश्यत्वमिष्टं यत्र किमपि पात्रमागत्य स्वकीयमेव वस्तुजातं स्वेनैव वाचिकाभिनयेन गुणीभूताङ्गिकाभिनयपूर्वकं रङ्गमञ्चे सहृदयजनसभ्यपुरःसरं प्रतिपादयति, यत्र तु कस्यचित् पात्रस्य उक्तिः अन्येन केनचित् पात्रेण उक्त्यनुकूलाभिनयशून्यकेवलशब्दमात्रकथनेन प्रतिपाद्यते तत्र सूच्यत्वम्। दृश्यसूच्यत्वयोरुभेयोरपि काव्यात्मकत्वम् किन्तु यत्र तु शब्दरहितकेवलाङ्गिकाभिनयेन भावाभिव्यञ्जकनृत्यादिकमुपस्थाप्यते तत्राकाव्यत्वमिति।

रूपकेषु किं दृश्यं किञ्च सूच्यमिति बहुभिर्भ्रान्तम्। यत्र दृश्यत्वं तत्रापि शब्दसूच्यत्वं यत्र च सूच्यत्वं तत्रापि रङ्गमञ्चस्थपात्रदर्शनादिना दृश्यत्वमस्ति अतः कथमेतत् वक्तुं शक्यते यदिदं दृश्यमिदं केवलं सूच्यमिति। सूच्यत्वेनोपात्तानामुपक्षेपकानां कथं नाङ्कगतत्वम्? अङ्कगतत्वाभावे तस्य रूपकात्मककाव्यत्वं वा नेति इत्यादयो विकल्पाः संभवन्ति।

सूच्यदृश्यवस्तुविभागं कुर्वन् दशरूपककार आह-

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्॥

अस्याः कारिकाया अयमभिप्रायः। रूपकस्थस्य सर्वस्यापि वस्तुनः द्वेधा विभागः करणीयः। एको विभागः सूच्यनामा अपरश्च दृश्यश्रव्यनामा व्यवहर्तव्यः। सूच्यं वस्तूपक्षेपकैः पञ्चभिरुपस्थाप्यते। दृश्यश्रव्यञ्च अङ्केन। अङ्कोपक्षेपकयोः कीदृशो विभागः करणीयः यः सर्वथा निर्दुष्टो लक्षणानुकूलश्च स्यात्।

"सूच्यमेव" इत्यस्य केवलं श्रव्यमात्रमर्थः स्पष्टः। एवकारेणान्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थः दर्शितः। दृश्यव्यतिरिक्तं केवलं (सूच्यं) श्रव्यमेव सहृदयेषु यद्भवति तत् सूच्यमेव। अत्र रङ्गे यत्पात्रमायाति तत्सम्बन्धी वृत्तान्तः सूच्येन नोपस्थाप्यते अपि तु अन्यस्य नायकादेः कस्यापि पात्रस्य वृत्तान्तमादाय कश्चन् रङ्गे प्रविश्य केवलं

स्वशब्देनोपस्थापयति। एतेनान्यत्रस्थेतिवृत्तपदार्थस्यान्येनाभिनयशून्यं केवलं वचसां प्रतिपादनं भवति अतः सूच्यमित्युच्यते। दृश्यन्तु, रङ्गे प्रविष्टस्य तस्यैव पात्रस्य वक्तव्येतिवृत्तस्य तेनैव वाचिकाभिनयेन गुणीभूताङ्गिकाभिनयपूर्वकमर्थात् ईषदङ्गाभिनयपूर्वकमुपस्थापनं दृश्यश्रव्यं भवति। दृश्यं तु स्वसम्बन्धिवस्त्वनुगतेषदाङ्गिकाभिनयद्योत्यप्रधानीभूतवाचिकाभिनयद्वारा उपस्थापनम्। एकस्यैव वस्तुनः एकपात्रगतसमानाधिकरणतयोपसर्जनीभूताङ्गिकाभिनयकवाचिकाभिनयेनोपस्थापनं दृश्यश्रव्यत्वं मन्तव्यम्। एकस्मादेव पात्रादेकस्यैव सम्बन्धिनः वस्तुनआङ्गिकाभिनयवाचिकाभिनयाभ्यां समुपस्थापनात् सहृदयेषु दृश्यत्वश्रव्यत्वं दृश्यत्वमात्रं वा व्यवहारः। उभयोः शब्दप्रतिपाद्यत्वादुभयत्र काव्यत्वम्। अतः दृश्यवस्तुप्रतिपादकाङ्कस्यैव रूपकात्मककाव्यत्वं सूच्यमात्रवस्तुप्रतिपादकोपक्षेपकाणां न रूपकात्मककाव्यत्वमिति न वक्तुं शक्यते।

ननु काव्यस्य रसात्मकत्वात् उपक्षेपकाणां च वधबन्धाद्यरञ्जकवस्तूपपादकत्वात् कथं काव्यत्वम्। उक्तञ्च दशरूपककारेण—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥[६]

इत्युक्त्या नीरसत्वेनानौचित्येन चोपस्थितस्य वस्तुन उपक्षेपकैः सूचनात् सूच्यो भवति। अतः सूच्यस्य कथं काव्यत्वं रसापरिग्रहात् इति चेत् ? उच्यते यदत्र नीरसस्यानुचितस्य वस्तुनः सूचनमिति उच्यते तत्र कीदृशं नीरसत्वं कीदृशञ्चानौचित्यम्। वस्तुविस्तरपरिहाराय संक्षेपेण रूपकानुकूलवस्तूपकारकत्वेनोपक्षेपको यदि गृह्यते तर्हि कथं तत्र नीरसत्वम् कथञ्चानौचित्यम्। चेदभिनयादिभी रङ्गे दर्शयितुमशक्यत्वात् पूरोधदूराध्वयानराज्यदेशादिविप्लवादयः नीरसा अनुचिता वोच्यन्ते तन्नोचितं प्रतिभाति। नायकानुष्ठितप्रतिनायकपूरोधादिः नायकगतौजोऽभिव्यक्त्यर्थं वीरादिरसानुकूल एव भवति न त्वनौचित्यावहत्वान्नीरसताऽनुभावितुं शक्यते। अतः एव नाट्यशास्त्रे उक्तम् -

कालोत्थानगतिरसौ व्याख्यासंरम्भकार्यविषयाणाम्।
अर्थाभिधानयुक्तः प्रवेशकः स्यादनेकार्थः ।।[7]

व्याख्यासंरम्भकार्यविषयणामर्थामिधानयुक्तः अनेकार्थः प्रवेशको भवति ।

व्याख्यया प्रयोजनवशाद् गूढव्याख्यानमुक्तम्, यथा तापसवत्सराजे पद्मावतीगृहे वासवदत्तास्थापनं गूढप्रयोजनाय व्याख्यातम्। अतः व्याख्यार्थाभिधानयुक्तत्वादत्र प्रवेशकः कथं नीरसवस्त्वात्मकः। संरम्भेण तु कार्यविशेषविषयकोपायान्वेषणादि-प्रयोजकत्वं गृह्यते, यथा वासवदत्तामपहृत्योज्जयिनीं निनीषो-र्वत्सराजस्य ''उपस्थितमिदं तत्प्रयोजनमित्यादिना प्रयोजकत्वं प्राप्तानाममात्यानां संरम्भः शालङ्कायनेनोक्तः। कार्येण तु पञ्चाङ्गस्य, कर्मणामारम्भोपाय-पुरुषद्रव्यसम्पद्-देशकालविभाग- विनिपातप्रतीकार-कार्यसिद्ध्यात्मकस्यानुष्ठानं गृह्यते। इत्थं अर्थामिधानयुक्तत्वं सर्वेषां कालोत्थानगति- व्याख्यासंरम्भादीनां प्रत्येकमभिसम्बध्यते। अत्र केन वक्तुं शक्यते यद्वस्तुनः नीरसत्वमनुचितत्वमिति।

अङ्कान्तरानुसारी संक्षेपार्थमधिकृत्य बिन्दूनाम्।
प्रकरणनाटकविषये प्रवेशकः संविधातव्यः।।[8]
युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि।।
अपसरणमेव कार्यं ग्रहणं वा सन्धिरेव वा योज्यः।
काव्यश्लेषैर्बहुभिर्यथारसं नाट्यतत्वज्ञैः।।

सर्वमुत्सृज्यगमनरूपमपसरणमथवा सनिबन्धनबन्धनादिकरूपं ग्रहणं, सन्धानात्मकः सन्धिर्वा, सर्वोऽपि खलु यथारसं काव्यार्थ-बन्धनाद्युपपत्यात्मश्लेषैर्योजनीयः इत्यर्थः। स्पष्टमेतेन यद् युद्धादिकं सर्वमुपक्षेपकप्रवेशकादिषु यथारसमेव योज्यः अतः नीरसत्वमनुचितत्वं वोपक्षेपकस्य नोचितं प्रतिभाति।

ननु यथारसमेव वस्तुन उपादानमुपक्षेपकादिषु तर्हि कथं श्रीधनञ्जयकारिकायां नीरसोऽनुचित स्तत्र .... इत्युक्तम्।

हिन्दीटीकायां श्रीयुत् भोलाशङ्करव्यासादयोपि ''वे वस्तुएँ जो नीरस है जिनमें रसप्रवणता नहीं है जिनका रङ्गमञ्च पर दिखाया जाना योग्य नहीं, वे संसूच्य या सूच्य कहलाते हैं''

अत्र श्री व्यासादयः प्रष्टव्याः, चेन्नीरसवस्तुनो दर्शनं निषिद्धं तर्हि कथं श्रवणं न निषिद्धम्। वस्तुतः काव्यात्मक-रूपकादीनां श्रवणस्यैव प्रधानतयोपादानं वाक्यार्थात्मक-रसात्मकत्वात्। दृश्यं तु तस्य वाक्यार्थस्य किचिदाङ्गिकाभिनयपुरःसरवाचिकाभिनयनैव सहृदयेषु सङ्क्रान्तत्वात्। कथं वाचः सत्वेऽपि नीरसत्वं युज्यत उपक्षेपकस्य। अतः अस्याः कारिकाया व्याख्यान एव स्वल्पभ्रमः न तु कारिकारचनायाम्। वस्तुतः ''पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन'' इति न्यायाद् विस्तरेण सह नीरसादेरन्वयः न तु वस्तुनः। वस्तुनो रसवत्वे समुचितत्वे च सत्यपि केवलं विस्तारे नीरसत्वानुचितत्वभिया उपक्षेपको रूपके स्वीकार्यः। अतः रूपकगतोपक्षेपकोपात्तवस्तुनः सर्वथा रसवत्ता, तया च सम्यक् काव्यत्वं सुस्थिरं भवति। भवतु चानुपात्तवस्तुनो नीरसत्वम्। अतः उक्तं नाट्यशास्त्रे ''काव्यश्लेषैर्बहुभिर्यथारसं नाट्यतत्वज्ञैः''। इति।

अतः वेणीसंहारे, राक्षसीरुधिरप्रियराक्षसयोः शोणितपानादिकमितिवृत्तं नानाशूरक्षयोपसूचकत्वेनोपक्षेपकः वीभत्सरसानुकूलश्च। एवमेव सर्वत्रोपक्षेपकविषये मन्तव्यम्।

यत्तु शाकुन्तले धीवरश्यालकादिसम्बन्धीतिवृत्तमुपनिबद्धं कविना तत्राङ्कत्वं वोपक्षेपकत्वं वेति विचारणीयम्। धीवरश्यालकादिभिर्यदुपस्थापितं न तदन्यसम्बन्धिवस्तु। विहितकार्यानुकूलस्येतिवृत्युपस्थापनं रङ्गे परिमिताङ्गिकाभिनयपूर्वकमस्त्येव। अतः दृश्यत्वश्रव्यत्वैकाधिकरणकत्वस्योपलब्धौ अङ्क एवास्तु किमुतोपक्षेपकत्वेन। पुस्तकोपलब्धविष्कम्भकप्रवेशकाभ्यां यथामति विद्वद्भिः स्वीकृताभ्यां किं प्रयोजनम्। किञ्चात्र सूच्यते, शापानुसार्यङ्गुलीयकदर्शनेन स्मारितशकुन्तलास्नेहावबोधे राज्ञि दर्शित एव। एतदवश्यमस्ति यद् नेतूराज्ञः मञ्चे स्थितिर्नास्ति

प्रत्यङ्कनायकोपस्थितिरवश्यमिष्यते तर्हि भवत्वत्रोपक्षेपकः अन्यथा अत्राङ्क एव मन्तव्यः। अङ्कमध्ये अप्सरसः सानुमत्याः प्रवेशमारभ्य उभे - तह (तण)'' इति पर्यन्तं भवतु मिश्रविष्कम्भकः। निराकृतशकुन्तलायां स्नेहातिरेकोद्भूतविप्रलम्भानुकूलानुभाव सूचनाद् दुःष्यन्तस्य। अस्तु प्रवेशकविष्कम्भकयोरुपक्षेपकयोरधिक-विस्तृतवस्तूपक्षेपणाय सूचकत्वेन संसूचकत्वमङ्काद्बहिर्भूतत्वञ्च वक्तुं शक्यते। कित्वङ्कास्याङ्कावतारयोः कीदृशी स्थितिः। अनयोरङ्कान्तर्गतत्वं वाङ्कबहिर्गतत्वं वस्तुनः सूचकत्वं वा दृश्यश्रव्यत्वं इति संदेहो जागर्ति। यद्यनयोर्दृश्यश्रव्यता स्वीक्रियते तर्हि अङ्कान्तपात एव ? न स्वीक्रियते तर्हि कथम्। अत्र सूच्यताऽस्ति वा न। सूच्यत्वमात्रे कथं अङ्कान्तपातः। नास्ति अङ्कान्तपातश्चेत् कथमङ्काद्भेदेन प्रवेशकादिवत् नोपादीयते इति। उच्यते -

अङ्कास्याङ्कावतारयोरङ्कान्तर्गतत्वेऽपि उपक्षेपकत्वं विद्वद्भिः स्वीकृतम्। अङ्कोपक्षेपकयोर्भेदकतत्वं सूच्य-दृश्यसूच्यवस्तुत्वं निर्धारितम्। चेत् सूच्यत्वमनयोरिष्टं न सूच्यदृश्यत्वं तर्हि अङ्काद्भेदः। किन्तु नाटकादिषु अङ्कान्तर्गतत्वमेवैतयो र्लभ्यते न पृथक्त्वम्।

अङ्कास्ये तु भाविनोऽङ्कस्य आस्यं पूर्वेऽङ्के लक्ष्यते। इत्थं पूर्वस्याङ्कस्यान्तभागः उत्तराङ्कस्य मुखभागश्चैक एव। अत्रोत्तराङ्कस्या-नरम्भात् तदपेक्षयोपक्षेपकत्वं पूर्वाङ्कापेक्षया चाङ्कत्वमिति अङ्कानङ्काभ्या-मुभाभ्यां कर्षितत्वात् किमपि न वक्तुं शक्यते। यत्तु "अङ्कास्यान्तपात्रेण छिन्नाङ्कमुखयोजनम् इति नाट्यदर्पणोक्त्या प्रथमाङ्कस्य छिन्नत्वं, छिन्नाङ्कत्वेनोपस्थापितम् कथं प्रथमाङ्कगतत्वमिति उच्यते - तर्हि "छिन्नाङ्कमुखयोजनम्'' इत्यस्य वाच्यार्थः स्पष्टीक्रियताम्। छिन्ने पूर्वेङ्के अङ्कस्य भाविनोऽङ्कस्य मुखयोजनम् इति अथवा छिन्नस्य पूर्वाङ्कवस्त्वसम्बद्धस्य भाविनोऽङ्कस्य मुखयोजनम् इति। तत्र नाद्यम्, पूर्वाङ्कस्य नास्ति प्रकृतवस्तुसमाप्तिरतश्छिन्नत्वं तस्य न घटते, द्वितीयश्चेत् भाविनोऽङ्कस्यात्र पूर्वाङ्कवस्त्व-सम्बद्धताऽपि न घटते। यतो हि असम्बद्धत्वं वस्तुना रसेन वा सम्भवति, अत्र भाविनोङ्कस्य

रसवस्तुभ्यां सम्बद्धमेव पूर्वाङ्करसवस्तु इति विशिष्टवस्तुश्लिष्टमेव मुखं पूर्वाङ्कान्ते उपादीयते नासम्बद्धम्। तर्हि कथं 'छिन्नाङ्कमुखयोजनम्' अथवा अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् इति दशरूपकेऽपि निर्दिष्टम्।

अस्तु अत्र छिन्नपदं व्युत्पादितव्यम्। छित्तिः छिन्नं चेत् विच्छितिः शोभाविशेषः। अतः रसवस्तुभ्यां विच्छिन्नस्य विश्लिष्टस्य विशेषतः पूर्वाङ्करसवस्तुपरिग्रहादाश्रितशोभाविशेषस्योत्तरस्याङ्कस्य मुखयोजनम्। अत्र पूर्वापेक्षया किञ्चिद्विशेषाधानेन वस्तुभेदो लक्ष्यते अतोत्र विशेषाधानात्मको भेदः स्वीकर्तव्यः, न तु पूर्ववस्तुपरित्यागपूर्वकान्य-वस्तूपादानात्मको भेदः। अतो विशिष्टाङ्कस्यविशेषार्थसूचनादङ्कास्यं मन्तव्यम्। यथा वीरचरिते पूर्वाङ्के शतानन्दजनकपरशुरामपात्राणां परशुराम-रोषात्मकवस्तुप्रयोगात्मके अग्रिमेऽपि अङ्के विशेषतः तस्य वस्तुनः प्रयोगः पूर्वेऽङ्के सुमन्त्रः नवीनमेकं पात्रमागत्य वशिष्ठ-विश्वामित्रपात्रद्वयसंयोजनाय ताभ्यामावाहनं निवेद्यते। तथा च पूर्वाङ्के "पापं वाञ्छसि कर्म राघवशिशावस्मत्सनाथे कथम्" इति जनकोक्तेर्विशेषेण कथनाय वशिष्ठविश्वामित्राभ्यां "सोयं त्वां तनयप्रियः परिणतो राजा शमं याचते" इत्युक्तिरस्ति। अतः वस्तुनो भेदो नास्ति न च रसस्य। अपितु केवलं पात्राधिक्यं दर्शितम्। शतानन्द जनकपरशुरामैः सह वसिष्ठविश्वामित्रावपि उत्तराङ्के समागतौ अतोऽङ्कान्तपात्रैः सहान्यान्यपि पात्राणि। अङ्कावतारे तु वस्तुपात्रादीनां समतयोपादानं भवति इति उभयोर्भेदः। उक्तञ्च नाट्यशास्त्रे -

विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमुच्यते।।[१]

अर्थात् भाविनोऽङ्कस्य रसवस्तुभ्यां विशेषेणश्लिष्टं विच्छित्ति-विशेषयुक्तं मुखं केनचित्पात्रेण यत्पूर्वमेवोपक्षिप्यते तदङ्कमुखं भवति। अत्र सुमन्त्रेण पूर्ववस्त्वादिविश्लिष्टमेव मुखमाक्षिप्तमिति अङ्कास्यं घटते। सूच्यत्वमत्रावाहनात्मकार्थस्य वशिष्ठविश्वामित्राभिसम्बन्धात्

सुमन्त्रस्यात्र सूचनेन (कथनेन) घटते। स्वेतरान्यवाक्यार्थ-स्याभिनयशून्यकथनात्मरूपलक्षणस्य केवलसूच्यस्य संघटनात्। अतः उक्तं सूच्यमेव भवेत् किन्चित् इति।

अङ्कास्यमिदमल्पतरसूचनात् भवति। विष्कम्भकप्रवेशकयो-र्बहुसूच्यं भवति चूलिकायामल्पसूचनं मङ्कास्येऽल्पतरसूचनं तथा चाङ्कावतारेऽल्पतमसूचनं लभ्यते। अतः उक्तं नाट्यदर्पणे-''आद्यो सूच्ये बहावन्ये क्रमादल्पेतरे तमे''।। इति।

अङ्कावतारे तु अल्पतमसूचनं लभ्यते। यदुक्तम् -

''सोङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम्'' इति। अत्र तैरेव पात्रैस्ताभ्यामेव वस्तुरसाभ्यां युक्तमङ्कान्तरं अवतरति। अङ्कास्ये केनचित्पात्रेण भिन्नेङ्के अङ्कावतार इति अङ्कास्यम्, अत्र तु पात्रं विनैव एकस्मिन्नेवाङ्के। अत उच्यते -

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः। इति

अविभागतोऽङ्कान्ते अपरस्याङ्कस्यावतारः। अपराङ्कोऽयं न संख्येय अपि तु संख्याताङ्कान्तरापाती। अतः गर्भाङ्कोऽयम् इत्यपि। बीजार्थयुक्तियुक्ततामात्रमत्रलक्ष्यते, गर्भाङ्के तु समानवस्तुपात्रात्मकपूर्व-भाविनोरङ्कयोर्मध्ये भिन्नवस्त्वात्मबीज-कथाभिनयप्रवृत्तपात्रादिकत्वं लभ्यते इति गर्भाङ्कादस्यभेदः। अङ्कावतारो यथा मालावकाग्निमित्रे, विदूषको द्वावपि आचार्यौ रङ्गशालातः दूतं विसर्जयितुं निवेदयति पुनश्च रङ्गान्तरं जायमानः मृदङ्गशब्दएव राजानमुत्थापयिष्यति इत्यपि वदति। तदनन्तरं तस्मिन्नेवाङ्के मृदङ्गशब्दः श्रूयते। मृदङ्गशब्द-श्रवणानन्तरं प्रथमाङ्कस्य सर्वाणि पात्राणि रङ्गशालां गन्तुमुद्युक्तानि। द्वितीयाङ्कादौ च सर्वाणि पात्राणि प्रथमाङ्कान्तपात्रसक्रान्ति-दर्शनमारभन्ते इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतारणादङ्कावतारः इति।। नाट्यशास्त्रे यथोक्तम् -

अङ्कान्त एव चाङ्को निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य।
बीजार्थयुक्तियुक्तो ज्ञेयो ह्यङ्कावतारोऽसौ।।१०

अस्यायमभिप्रायः, अङ्कान्ते योऽङ्को बीजार्थयुक्तियुक्तो निपतति सोऽङ्कावतारः। अत्र बीजार्थयुक्तियुक्त इति पूर्वाङ्कस्थबीजार्थ-युक्तियुक्तो बोध्यः। अङ्कान्ते कश्चनाङ्क एवाङ्कावतारः। किन्तु न गर्भाङ्कः। भेदस्योपरि दर्शितत्वात्। अतः सत्यपि अङ्कत्वेऽस्य कथमुपक्षेपकत्वमिति दुरूहं प्रतिभाति। मम दृष्टौ तु मृदङ्गशब्दं श्रुत्वा पूर्वाङ्कस्थानि तान्येव सर्वाणि पात्राणि द्वितीयेऽङ्के तदेव वस्तुबीजं विस्तारयन्ति दृश्यन्ते। अत्र मृदङ्गशब्द एव सुसज्जसङ्गीतोपकरण-रङ्गमागमयितुं पात्राश्रितवागाभिनयं विनैव प्रेरयति इति सूक्ष्मं सूच्यम्। मृदङ्गशब्दस्य सूचकत्वेऽपि अङ्कान्तरवर्तिशब्दसान्निध्येन तस्य काव्यत्वहानि र्न सम्भाव्या। केवलस्य मृदङ्गशब्दस्य काव्यत्वहानेः अत रसार्णवसुधाकरे-

पात्रेणाङ्कप्रविष्टेन केवलं सूचितत्वतः।
भवेदङ्कादबाह्यत्वमङ्कास्याङ्कावतारयोः।।

अङ्कादवाह्यत्वादङ्कत्वं, सूचितत्वतः उपक्षेपकत्वञ्चोभयं प्राप्तम् इति भावः।

चूलिकाया उपक्षेपकत्वं स्पष्टं नेपथ्यगतपात्रोक्तत्वात्। नेपथ्यं रङ्गभूमेश्चूला (चूडा) तत्रस्थपात्रोक्तत्वात् चूलिकेति सार्थकं नाम। उत्तररामचरिते नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकया आत्रेयीप्रवेशात्मवस्तु सूचनाच्चूलिकोपक्षेपकः। अत्र यद्यपि वासन्तिका स्वोक्त्यैव वाचिकत्वमुपस्थापयति न स्वेतरपात्रस्थपदार्थस्य तथापि नेपथ्येनो-क्तत्वात् रङ्गभूमौ वाचिकोपस्थापितपदार्थादृश्यत्वात् सूच्यम-विच्छिन्नमेव। अतः सूच्यमेव भेवदिति लक्षणं चूलिकायां घटते।

इत्थं सूच्यदृश्यश्रव्यवस्तुविवेकेन अङ्कोपक्षेपकयोः दृश्यसूच्ययोर्वा विभागं प्रस्तुत्य रसस्य विवेकः प्रारभ्यते। यश्च काव्याकाव्यात्मके सर्वत्र नाट्यमात्रे लभ्यते।

रससूत्रविवेक:

तत्र कोऽयं रस: इति

१. किं नाट्ये ये रसा: पठ्यन्ते ते रसा:। उताहो वैणाङ्किकादिभिरपि प्रस्तूयन्ते ?

२. किं रस: सर्वेषां नाट्यार्थानां प्रवर्तक:, उताहो सर्वोऽपि नाट्यार्थो रसानां प्रवर्तक: ?

३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति: इत्यस्य कोऽभिप्राय:।

अत्र विभाव:, रामादि: अथवा रामादेरनुकर्ता नट:, उताहो नटे रामत्वमित्येव प्रतीति र्न नटत्वादे:? विभाव: कारणं, लिङ्गम् वा? कस्य कारणं, स्थायिनो वा रसस्य? उभयोर्वा? लिङ्गत्वे सति कस्य लिङ्गम्। लिङ्गत्वेऽपि सत्यतया वाऽसत्यतया। लिङ्गस्यासत्यत्वे कथं लिङ्गिनो रत्यादे: सत्यत: सुखात्मकत्वम्? विभावस्य काव्यानु-सन्धानं वा नेति। अनुकार: विभावे घटते वा न? अनुकारोऽपि वेषस्य वा वस्तुवृत्तस्य। सांख्यदृशा किं सुखदु:खजननशक्तियुक्ता वाह्यसामग्री वा न ? विभाव: प्रत्यायक:, उत्पादक: अभिव्यञ्जक: भावको वा? इत्यादिकं बहुधा विकल्प्यते।

तत्र रससूत्रम् – विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:। सूत्रेस्मिन् पदद्वयम्। द्वेऽपि पदे समस्ते। पूर्वं पञ्चम्यन्तं द्वितीयं प्रथमान्तम्। समस्तपूर्वपदे पदचतुष्टयम्। उत्तरसम्मस्तपदे पदद्वयम्। प्रत्येकं पदं किमर्थकम्। विभक्तेश्च कीदृश: अर्थ: इति बहुधा बहुभिराचार्यै: प्रदर्शितम्। तत्र "हेतौ" इति सूत्रेण निर्दिष्टा पञ्चमी विभक्ति:। तया अर्थप्रतिपादने ये ये हेतव: सम्भाव्यन्ते ते नैका:। क्वचिद् अभिधा क्वचित् तात्पर्या, क्वचिदनुमिति: क्वचिद् भुक्ति:, क्वचिदभिव्यक्ति:, क्वचिद् दोषविशेष:। संयोगोऽपि सम्यग्योगतया विभावादिषु त्रिष्वपि पदेषु प्रत्येकं सम्भूय, स्वोत्तरोपात्तविभक्त्यर्थहेतुना सह योगं, नानाविधतया विधत्ते। एतेषां सर्वेषां योग: अनुपात्तस्थायिना

सह दर्शितः। द्वितीयपदं रसोऽपि नैकविधः। यैर्यै र्हेतुभिः सह सम्बध्यते तथा तथात्मानं परिणमति। स सिद्धोऽपि व्यापाररूपोऽपि चर्वणारसनादिनाऽपि रसपदमुपचरितमित्यादिना नानाशेमुषीभिः नानाप्रकारेण सूत्रस्यास्याभिव्याख्यानं विहितम्। यतो हि अयं नाट्यरसः, अतः नाट्याद्रसः नाट्यमेवरसः नाट्येरसः, नाट्यमाश्रित्य रस इति बहुधा विभक्तः। तत्र शनैः शनैः सर्वेषां मतानां दर्शनं विधीयंते।

तत्र सूत्रस्थविभावादिषु प्रत्येकं रसः इति स्वीकुर्वद्भिः, शुद्धो विभावो रसः शुद्धोऽनुभावो रसः, शुद्धो व्यभिचारिभावो रसः तत्संयोगश्च रस इति विकल्प्यते। अत्र द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणा या विभक्तिः सा प्रत्येकमभिसम्बध्यते, विभावाद्रसनिष्पत्तिः, अनुभावाद्रसनिष्पतिः, व्यभिचारिभावाद्रसनिष्पत्तिः तत्सयोगाद्रसनिष्पत्तिः इति सूत्रं व्याख्याय, कार्यकारणयोरभेदोपचाराद् विभाव एव रस इत्यादिकं स्वीकृतम्। एतेषां मतेषु शुद्धविभावादिनाऽपि रसनिष्पत्तिर्दृश्यते यतोहि विभावादयः प्रत्येकं भावरूपाः। भावाच्च रसनिष्पत्तिर्दर्शिता। भावस्यसत्वे औपाधिकव्यनूपर्सगादिभिरुपाधिभिर्विभावानुभावादयो विभजितुं शक्याः। यथा -

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुर्यं वपुस्ते दृशो-
र्भङ्गी, भङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आध्यातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः,
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेका कृतिः।।

अत्र कामिनीरूपविभावो वर्णितः। नात्रायं विभावः अपि तु रसानुकूलभावमात्रत्वेन गृहीतः। अतः केली-विभ्रम-भङ्गुर-नर्म-वचोमहिम्ना अनुभाववर्गः, भङ्गी-क्रमविकारादिभ्यः औत्सुक्योन्मादचापलादिव्यभिचारिभाववर्गः स्वयमेव परिकल्पयितव्यः। अत्र केवलं वाच्यो विभाव एव रसः। एवमेव केवलमनुभावस्योदाहरणम्।

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने,
यद्गात्राणि दरद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।

दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयो:
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थिति:।। इति

अत्र विश्रम्येत्यादिना विश्रान्तिलक्षणस्तम्भ: विलोकनवैचित्र्यं गात्रतानवतारतम्यं पुलकविवर्णत्वादिश्चाऽनुभावो वर्णित:। आनुषङ्गिकतया कृष्णेत्यादिना विभाव:, उक्तानुभावो, मोहादि-व्यभिचारिभावश्च विकल्पनीय:। केवलं व्यभिचारिणो यथा -

दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं,
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि।।

अत्रौत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां च केवलानां व्यभिचारिणां स्थिति:। किन्तु अनुभावाभिव्यक्तत्वादनुभावानां, ''मानिन्या:, प्रेयसि, पदाभ्यां, विभावस्यानुषङ्गिकताया: स्वयमेवोपादानं भवति। अत: एतेषु केवलं एकोऽपि रस: भवितुमर्हति। एकस्यैव काव्योपात्तत्वात्। अत: नाट्ये रस इति धिया एक एव नाट्यरस:।

केवलं तत्संयोगोऽपि रस: इत्येके। एतेषामभिप्रायस्तु अनौचित्यादिना प्रवृत्तो विभावादिर्न रस:, अपितु औचित्येन प्रवृत्तेन विभावादिना स्थायी संयुज्यते अतस्तत्संयोग एव रस:। अन्यथा विभावादौ कश्चनापि न रस:।

अत: उक्तं त्रिषु यश्चमत्कारी स एव रस: अन्यथा त्रयोऽपि न इति।[११] उक्तञ्च ध्वन्यालोकलोचने - ''अन्ये तु शुद्धं विभावं, अपरे शुद्धमनुभावं केचित्तु स्थायिमात्रं इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम् एके अनुकार्यम् केचन सकलमेव समुदायम् रसमाहुरिति''।।[१२]

सूत्रे स्थायिभावस्यानुपादानेऽपि तस्यैव रसरूपतयास्वादने सर्वभरसहिष्णुत्वाद् रसरूपत्वे न कस्यचिद्विमति:, स्थायिमात्रमेव रस: अनुकार्यमात्रञ्च रस: इति अग्रे वितनिष्यते। अत: केवलं विभावादिषु प्रत्येकं रस: इति मतेषु सूत्रविरोध: न कल्पनीय:।

एकस्यापि सम्यग्योगाच्चमत्काराच्च रसनिष्पत्तिर्भवितुमर्हति। भावरूपत्वेनैकेनान्यद्वयस्य भावरूपस्याक्षेप्तुं शक्यत्वात्।

त्रयाणां संयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति स्वीकुर्वत्स्वाचार्येषु प्रथमं अभिधया रसनिष्पात्तिरिति स्वीकारे **आचार्यभट्टलोल्लटः** -

एतन्मतानुसारेण विभावः आलम्बनोद्दीपनकारणम्, अनेन कारणेन रामादिषु अनुकार्येषु रत्यादिको भावो जनितः। अत्र रसपदेन रत्यादिस्थायिभावो गृहीतः, संयोगस्य कार्यकारणभावरूपार्थः। रामादौ जनितो रत्यादिः स्वकार्येणानुभावादिना सम्यगनुमितः, प्रतीतो वा भवति, अतः अनुभावेन सहानुमेयानुमापकत्वं प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वं वा संयोगपदस्यार्थः। व्यभिचारिभिस्तु स एव रामादिगतो रत्यादिः पोषितः, अत्र संयोगस्य पोष्यपोषकाभावः, एवञ्च प्रत्येकं विभावादिना सह रत्यादेः स्थायिभावस्य सम्यग् यथोचितं जन्यजनकभावेन, प्रत्याय्यप्रत्यायकभावेन पोष्यपोषकभावेन च योगाद् रसस्य स्थायिनः रत्यादेर्निष्पत्तिः इति सूत्रार्थः। काव्यनाट्यसमर्पितरामादिसंज्ञाभृदनुकार्ये स्थाय्यात्मा यो रत्यादिः सः अभिधयैव मुख्यया वृत्यैव वा प्रतिपाद्यते। नर्तके तु तद्रूपतानुसन्धानाल् लक्षणयेति। सामाजिकैस्तु तटस्थतया तत्रस्थो रत्यादिरसः आरोप्य साक्षात्क्रियते इति मम्मटः। अभिनवगुप्तस्तु सामाजिकं प्रति न किमपि ब्रूते अभिनवभारत्याम्।

अत्र रसपदेन यः स्थायिभावो गृहीतः स अनुभावं प्रति कारणस्ति। अतोत्र हेत्वर्थक पञ्चमीविभक्तेरुपादानमेतद्प्रतिपादयति यद् रसपदमिदं न केवलं स्थायिमात्रमपि तु उपचितस्थाय्यात्मक-रसस्वरूपमपि प्रतिपादयति। अतः उपचितस्थायिभावात्मकरसं प्रति अनुभावस्य कारणत्वं, स्थायिनं भावं प्रति कार्यत्वमिति। रसोऽपि द्विविधः एको लौकिकः रामादिगतः द्वितीयश्य नटसामाजिकादिगतो अलौकिकः इति सुधीभिर्ध्येयः। उक्तं रसमञ्जरीकारेण - रसो द्विविधः, लौकिकः अलौकिकश्च। उक्तञ्चाभिनवगुप्तेन-

"विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पतिः।"

"विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च

न रसजन्या:, अत्र विवक्षिता: तेषां रसकारणत्वेन, गणनानर्हत्वात्''। इति। रसकारणत्वं तु हेत्वर्थकपञ्चमीविभक्त्युपादानाद्। इति स्पष्टम्। अत: स्थायिजन्या अनुभावा इति विव्रियते। अत्र नाट्ये रस: इति नाट्यरसो विवृत:।

लोल्लटमतखण्डनम्

भट्टलोल्लटस्यास्य मतस्योत्थाने मुनिवचनमिदं प्रतिभाति -

''रसपूर्वकत्वं भावानाम् भावपूर्वकत्वं रसस्य, विषयविशेषापेक्षया प्रयोगे ह्यनुकर्तरि रसानास्वादयतामनुकार्ये भावप्रतीतिरुत्पद्यते'' इति।

मतेऽस्मिन् एतत्स्पष्टं यद् मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादि: कमनीयविभावाद्यभिधेयप्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते। साक्षात्कारश्च दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादि-विषयकरतिमान् इत्यादि। दुष्यन्तादिधर्म्यंशे लौकिक: आरोप्यांशे त्वलौकिक:।

अत्र आचार्यशङ्कुकमतमुपस्थापयन्नभिनवपादोऽभिनवभारत्यां दोषं दर्शयति - एतन्न इति श्रीशङ्कुक:। सूत्रस्थरसनिष्पत्तिरित्यत्र रसस्य कोऽर्थ:। चेत् स्थायिभावस्तदानीं विभावादिभि: स्थायि–निष्पत्तिरिति वक्तव्यम्। यदि उपचितस्थाय्यात्मकरसनिष्पतिरिति तर्हि प्रष्टव्यम् स्थायी कुतो लब्धो भवद्भिर्येन सह विभावादीनां यथोचितं योग: स्वीक्रियते। विभावादिसंयोगात् स्थायी प्रतीतश्चेत् तदानीं संयोगस्य लिङ्गत्वमर्थ: कार्य:। केवलं हेतोर्वाच्यत्वेऽपि साध्यस्य प्रतीतिरिष्टा । यतो ह्युक्तम् -

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिन:।
ख्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवल:।।

अतोऽत्र हेतुत्वेन विभावादेरुपादानात् साध्यत्वेन स्थायिनो बोधो निर्विवाद:। तत्तु भवद्भिर्न स्वीकृतम्। सूत्रे स्थायिनोऽनुपादानान्न साक्षात् विभावादियोग:, तदयोगे स्थायिनो लाभाय, संयोगस्य लिङ्गत्वमर्थ: स्वीकार्य: अन्यथाऽवगत्यनुपपत्ति:। अत: उच्यते ''विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्ते:'' इति।।

चेद् रसेन स्थायी उच्यते तर्हि स्थायिनो भावत्वाद्, भावानां च रसात् पूर्वामिधानोपयुक्तत्वात्, तस्यापि पूर्वाभिधेयताप्रसङ्गात्। अतः उच्यते - "भावानां पूर्वाभिधेयताप्रसङ्गात्"। इति

चेद् विभावादिभिः संयोगोऽर्थात्स्थायिनस्ततोरसनिष्पत्तिरिति तदानीं संयोगस्य उत्पत्तिरेवैकोऽर्थः विधातव्यः न तु प्रतीत्यादिः। यतोहि मुनिराह- वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। स चासंमोहाध्यवसाय-नयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते इति। पुनश्च स्थायिभावानुवादे तु उत्साहो नामोत्तमप्रकृतिः। स चा-विषादशक्तिसौन्दर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते इति। न चोत्पत्तौ विभावादि-पदार्थानां कारणत्वमभिधाय, पुष्यतां पुनः तेषां, पोषोत्पत्तिकारणम-भिधातव्यम् वैयर्थ्यापत्तेः। यतो हि रसलक्षणे विस्तरशो विभावा, भावलक्षणे अल्पशो विभावा, मुनिनोपात्ताः स्वयमेवोपचितत्वं रसलक्षणे प्रदर्शयन्ति। अतः पोषकत्वादिलक्षण- वैयर्थ्यापत्तेः। अतः उक्तं "स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्" इति।

यदि च अनुपचितावस्थः स्थायी भावः, उपचितावस्थो रस इत्युच्यमाने एकैकस्यैव स्थायिभावस्य अनुपचितावस्थाघटकमन्द-मन्दतर-मन्दतम-मन्दमध्येत्यादिविशेषापेक्षया आनन्त्यापत्तिः, एवञ्चोपचितावस्थाघटकतीव्र-तीव्रतरतीव्रतमादिभिरसंख्यत्वं प्रपद्यते। अत उक्तं—"मन्द-मन्दतरमन्दतममन्दमध्याद्यानन्त्यापत्तेः" इति। माध्यस्थ्य- इति पाठश्चिन्तनीयोऽभिनवभारत्यां निर्दिष्टः।

चेत्, उपचयकाष्ठां प्राप्त एव रस उच्यते तर्हि स्मितम-वहसितादिकैः षोढात्वं हास्यरसस्य कथं भवेत्। अतः उक्तं-'हास्यरसस्य षोढात्वाभावप्राप्तेः। तथाहि, अभिलाषार्थचिन्तनानुस्मृति गुणकीर्तनोद्वेगविलापोन्मादव्याधिजडतामरणेषु दशसु कामावस्थासु दशसंख्याताः शृङ्गाररतिभावादयः प्रसज्जेरन्। अतः उक्तं-"कामावस्थासु दशसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्" इति।

यच्चोक्तं प्रागवस्थाभावः स्थायी रसीभवति तु क्रमेणोपचित इत्यत्रापि विपर्ययो दृश्यते। यतः - इष्टजनवियोगाद्विभावादुत्पन्नो

महान् शोकः, क्रमेणोपशाम्यति न तु दार्ढ्यमुपैति। क्रोधोत्साहरतीनां च निजनिजकारणबलादुद्भूतानामपि कालवशात् क्रमेणामर्षस्थैर्य-सेवाविपर्ययेऽपचयोऽवलोक्यते। यथोक्तम्- ''शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं, क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च'' इति

यथोक्तमभिनवभारत्याम् - ''विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात् स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानत्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाम-मर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्यपस्य दृश्यमानत्वाच्च'' इति।[१३]

शङ्कुकमतम्

अथ शङ्कुको व्याख्याति सूत्रमिदम् -

विभावा हेतवः नटैःकाव्यबलादनुसंधेयाः अनुभावाः कार्याणि शिक्षातोऽनुसन्धेयाः, व्यभिचारिणः सहचारिणः, कृत्रिमनिजानुभावा-र्जनबलाद् अभ्यासाद्वा अनुसंधेयाः। अनुकर्तृनटस्थत्वेन कृत्रिमैरपि एभिर्विभावादिशब्दवाच्यैर्हेत्वादिभिः, कृत्रिमत्वेनानभिमन्यमानैः, संयोगाद् लिङ्गबलाद् अनुमीयमानः (प्रतीयमानः) स्थायी भावः, मुख्यरामादि- गतस्थाय्यनुकरणरूपः अतएवानुकरणरूपत्वादेव रसनाम्ना व्यपदिश्यते। इत्थं नटादिगतः कृत्रिमहेत्वादिभिर्गम्यः कृत्रिमनटादि- गतस्थायिभावः अनुक्रियमाणत्वाद् रसो भवति।

सूत्रे यत् स्थायी नोपात्तः, तेनेदं स्पष्टीक्रियते यत् स्थायी सर्वथा नाभिधेयः अपितु अभिनेय एव, अतः काव्यबलादपि नानु-सन्धीयते इति। अभिनेयत्वेन गम्यत्वं तेन संयोगस्य लिङ्गलिङ्गि-भावोऽर्थः स्पष्टो भवति। यत्तु, वाचोपस्थाप्यते तदभिधेयतामवगाहते यत्तु वाचिकाभिनयेनाभिनीयते तत्तु नाभिधीयते अपितु अभिनीयते। अतः न वागेव वाचिकम्, अवगमनशक्तिर्हि अभिनयोवाचकत्वा-

इत्थं नाट्यं द्विविधम्- दृश्यं श्रव्यञ्च। यदत्र श्रव्यं भवति तन्न केवलं श्रव्यमात्रमपितु दृश्यश्रव्यात्मकं मन्तव्यम्। यच्च केवलं दृश्यं भवति तन्नृत्यादि नाट्यान्तर्गतमेव। काव्यत्वं दृश्यश्रव्यात्मकत्वे तिष्ठति दृश्यत्वमात्रत्वं तु काव्येतरे नृत्यादाविति। अकाव्यात्मक-रागादिनाऽपि काव्यात्मकरूपकादिनापि च रसोऽभिव्यज्यते। अतो रसभावात्मकं नाट्यं निर्दिश्यते।

ननु कथं नाट्यं काव्याकाव्यात्मकत्वेन द्वैविध्येन विभजते। सर्व खलु नाट्यं दशरूपकात्मकम्। दशरूपकेषु नाटकादिषु सर्वत्र काव्यत्वमस्त्येव। अत: काव्यापरपर्यायमेव नाट्यमिति स्वीकर्तव्यम्। यथोक्तं पूर्वम् नाट्यमनुकरणीयम् तद् दशरूपकात्मकमिति। उच्यते केवलेषु सिद्धिस्वरातोद्यगानरङ्गादिष्वपि काव्यत्वापत्ति:। न च रूपकाङ्गत्वेन रूपकस्य काव्यत्वादेतेषामपि काव्यत्वं सुतरां सिद्धमेव कथमत्राकाव्यता दृश्यते। न हि सर्वत्र रूपकाद्यङ्गतयैवैतेषां स्थितिरपितु स्वतन्त्रतयाऽपि। अत: उक्तम् पण्डितराजेन - "यत्त्वास्वादोद्बोध-कत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहु: तन्न। रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिक-संमतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्ते:। किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्वापत्तिर्दुवरैव" इति।[5]

एतेन स्पष्टमस्ति यद् नाट्याङ्गानि सर्वाणि न काव्यत्वेन स्वीकृतानि। अतो नाट्यं द्विविधं काव्यमकाव्यञ्चेति। शब्दप्रतिपाद्यत्वेऽस्य काव्यत्वमर्थमात्रप्रतिपाद्यत्वे अकाव्यत्वमिति। ननु नाट्यं काव्यमकाव्यमिति इत्यनुक्त्या नाट्यं दृश्यं श्रव्यञ्चेत्युक्त्या काव्यस्यापि दृश्यश्रव्यत्वभेदेन द्वैविध्यात् कथं नाट्यकाव्ययोर्भेदोपलब्धिरिति शङ्कायां जागरितायां किं समाधा-नमिति चेदुच्यते- नाट्यं दृश्यं श्रव्यमिति उक्त्या, क्रमेण नाट्यस्य केवलं दृश्यत्वानुकूलाङ्गिकाभिनयपात्रत्वं, दृश्यत्वसमानाधि-करणश्रव्यत्वानुकूलाभिनयविशिष्टपात्रत्वञ्च गृह्यते। काव्यस्य दृश्यत्वं दृश्यत्वसमानाधिकरणश्रव्यत्वानुकूलवाचिकाभिनयपात्रत्वं, श्रव्यत्वञ्च

केवलं शब्दात्मकत्वं विवक्षितमिति मन्तव्यम्।

अर्थात् तत्रैव रूपकादिषु दृश्यत्वमिष्टं यत्र किमपि पात्रमागत्य स्वकीयमेव वस्तुजातं स्वेनैव वाचिकाभिनयेन गुणीभूताङ्गिकाभिनयपूर्वकं रङ्गमञ्चे सहृदयजनसभ्यपुरःसरं प्रतिपादयति, यत्र तु कस्यचित् पात्रस्य उक्तिः अन्येन केनचित् पात्रेण उक्त्यनुकूलाभिनयशून्यकेवलशब्दमात्रकथनेन प्रतिपाद्यते तत्र सूच्यत्वम्। दृश्यसूच्यत्वयोरुभयोरपि काव्यात्मकत्वम् किन्तु यत्र तु शब्दरहितकेवलाङ्गिकाभिनयेन भावाभिव्यञ्जकनृत्यादिकमुपस्थाप्यते तत्राकाव्यत्वमिति।

रूपकेषु किं दृश्यं किञ्च सूच्यमिति बहुभिर्भ्रान्तम्। यत्र दृश्यत्वं तत्रापि शब्दसूच्यत्वं यत्र च सूच्यत्वं तत्रापि रङ्गमञ्चस्थपात्रदर्शनादिना दृश्यत्वमस्ति अतः कथमेतत् वक्तुं शक्यते यदिदं दृश्यमिदं केवलं सूच्यमिति। सूच्यत्वेनोपात्तानामुपक्षेपकानां कथं नाङ्कगतत्वम्? अङ्कगतत्वाभावे तस्य रूपकात्मककाव्यत्वं वा नेति इत्यादयो विकल्पाः संभवन्ति।

सूच्यदृश्यवस्तुविभागं कुर्वन् दशरूपककार आह-

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्।।

अस्याः कारिकाया अयमभिप्रायः। रूपकस्थस्य सर्वस्यापि वस्तुनः द्वेधा विभागः करणीयः। एको विभागः सूच्यनामा अपरश्च दृश्यश्रव्यनामा व्यवहर्तव्यः। सूच्यं वस्तूपक्षेपकैः पञ्चभिरुपस्थाप्यते। दृश्यश्रव्यञ्च अङ्केन। अङ्कोपक्षेपकयोः कीदृशो विभागः करणीयः यः सर्वथा निर्दुष्टो लक्षणानुकूलश्च स्यात्।

"सूच्यमेव" इत्यस्य केवलं श्रव्यमात्रमर्थः स्पष्टः। एवकारेणान्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थः दर्शितः। दृश्यव्यतिरिक्तं केवलं (सूच्यं) श्रव्यमेव सहृदयेषु यद्भवति तत् सूच्यमेव। अत्र रङ्गे यत्पात्रमायाति तत्सम्बन्धी वृत्तान्तः सूच्येन नोपस्थाप्यते अपि तु अन्यस्य नायकादेः कस्यापि पात्रस्य वृत्तान्तमादाय कश्चन् रङ्गे प्रविश्य केवलं

स्वशब्देनोपस्थापयति। एतेनान्यत्रस्थेतिवृत्तपदार्थस्यान्येनाभिनयशून्यं केवलं वचसां प्रतिपादनं भवति अतः सूच्यमित्युच्यते। दृश्यन्तु, रङ्गे प्रविष्टस्य तस्यैव पात्रस्य वक्तव्येतिवृत्तस्य तेनैव वाचिकाभिनयेन गुणीभूताङ्गिकाभिनयपूर्वकमर्थात् ईषदङ्गाभिनयपूर्वकमुपस्थापनं दृश्यश्रव्यं भवति। दृश्यं तु स्वसम्बन्धिवस्त्वनुगतेषदाङ्गिकाभिनयद्योत्यप्रधानीभूतवाचिकाभिनयद्वारा उपस्थापनम्। एकस्यैव वस्तुनः एकपात्रगतसमानाधिकरणतयोपसर्जनीभूताङ्गिकाभिनयकवाचिकाभिनयेनोपस्थापनं दृश्यश्रव्यत्वं मन्तव्यम्। एकस्मादेव पात्रादेकस्यैव सम्बन्धिनः वस्तुनआङ्गिकाभिनयवाचिकाभिनयाभ्यां समुपस्थापनात् सहृदयेषु दृश्यत्वश्रव्यत्वं दृश्यत्वमात्रं वा व्यवहारः। उभयोः शब्दप्रतिपाद्यत्वादुभयत्र काव्यत्वम्। अतः दृश्यवस्तुप्रतिपादकाङ्कस्यैव रूपकात्मककाव्यत्वं सूच्यमात्रवस्तुप्रतिपादकोपक्षेपकाणां न रूपकात्मककाव्यत्वमिति न वक्तुं शक्यते।

ननु काव्यस्य रसात्मकत्वात् उपक्षेपकाणां च वधबन्धाद्यरञ्जकवस्तूपपादकत्वात् कथं काव्यत्वम्। उक्तञ्च दशरूपककारेण—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥[६]

इत्युक्त्या नीरसत्वेनानौचित्येन चोपस्थितस्य वस्तुन उपक्षेपकैः सूचनात् सूच्यो भवति। अतः सूच्यस्य कथं काव्यत्वं रसापरिग्रहात् इति चेत् ? उच्यते यदत्र नीरसस्यानुचितस्य वस्तुनः सूचनमिति उच्यते तत्र कीदृशं नीरसत्वं कीदृशञ्चानौचित्यम्। वस्तुविस्तरपरिहाराय संक्षेपेण रूपकानुकूलवस्तूपकारकत्वेनोपक्षेपको यदि गृह्यते तर्हि कथं तत्र नीरसत्वम् कथञ्चानौचित्यम्। चेदभिनयादिभी रङ्गे दर्शयितुमशक्यत्वात् पूरोधदूराध्वयानराज्यदेशादिविप्लवादयः नीरसा अनुचिता वोच्यन्ते तन्नोचितं प्रतिभाति। नायकानुष्ठितप्रतिनायकपूरोधादिः नायकगतौजोऽभिव्यक्त्यर्थं वीरादिरसानुकूल एव भवति न त्वनौचित्यावहत्वान्नीरसताऽनुभावितुं शक्यते। अतः एव नाट्यशास्त्रे उक्तम् -

कालोत्थानगतिरसौ व्याख्यासंरम्भकार्यविषयाणाम्।
अर्थाभिधानयुक्त: प्रवेशक: स्यादनेकार्थ: ।।[७]

व्याख्यासंरम्भकार्यविषयणामर्थामिधानयुक्त: अनेकार्थ: प्रवेशको भवति ।

व्याख्यया प्रयोजनवशाद् गूढव्याख्यानमुक्तम्, यथा तापसवत्सराजे पद्मावतीगृहे वासवदत्तास्थापनं गूढप्रयोजनाय व्याख्यातम्। अत: व्याख्यार्थाभिधानयुक्तत्वादत्र प्रवेशक: कथं नीरसवस्त्वात्मक:। संरम्भेण तु कार्यविशेषविषयकोपायान्वेषणादि-प्रयोजकत्वं गृह्यते, यथा वासवदत्तामपहृत्योज्जयिनीं निनीषो-र्वत्सराजस्य ''उपस्थितमिदं तत्प्रयोजनमित्यादिना प्रयोजकत्वं प्राप्तानाममात्यानां संरम्भ: शालङ्कायनेनोक्त:। कार्येण तु पञ्चाङ्गस्य, कर्मणामारम्भोपाय-पुरुषद्रव्यसम्पद्-देशकालविभाग- विनिपातप्रतीकार-कार्यसिद्ध्यात्मकस्यानुष्ठानं गृह्यते। इत्थं अर्थामिधानयुक्तत्वं सर्वेषां कालोत्थानगति- व्याख्यासंरम्भादीनां प्रत्येकमभिसम्बध्यते। अत्र केन वक्तुं शक्यते यद्वस्तुन: नीरसत्वमनुचितत्वमिति।

अङ्कान्तरानुसारी संक्षेपार्थमधिकृत्य बिन्दूनाम्।
प्रकरणनाटकविषये प्रवेशक: संविधातव्य:।।[८]
युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकै: संविधेयानि।।
अपसरणमेव कार्यं ग्रहणं वा सन्धिरेव वा योज्य:।
काव्यश्लेषैर्बहुभिर्यथारसं नाट्यतत्वज्ञै:।।

सर्वमुत्सृज्यगमनरूपमपसरणमथवा सनिबन्धनबन्धनादिकरूपं ग्रहणं, सन्धानात्मक: सन्धिर्वा, सर्वोऽपि खलु यथारसं काव्यार्थ-बन्धनाद्युपपत्यात्मश्लेषैर्योजनीय: इत्यर्थ:। स्पष्टमेतेन यद् युद्धादिकं सर्वमुपक्षेपकप्रवेशकादिषु यथारसमेव योज्य: अत: नीरसत्वमनुचितत्वं वोपक्षेपकस्य नोचितं प्रतिभाति।

ननु यथारसमेव वस्तुन उपादानमुपक्षेपकादिषु तर्हि कथं श्रीधनञ्जयकारिकायां नीरसोऽनुचित स्तत्र .... इत्युक्तम्।

हिन्दीटीकायां श्रीयुत् भोलाशङ्करव्यासादयोपि ''वे वस्तुएँ जो नीरस है जिनमें रसप्रवणता नहीं है जिनका रङ्गमञ्च पर दिखाया जाना योग्य नहीं, वे संसूच्य या सूच्य कहलाते हैं''

अत्र श्री व्यासादय: प्रष्टव्या:, चेन्नीरसवस्तुनो दर्शनं निषिद्धं तर्हि कथं श्रवणं न निषिद्धम्। वस्तुत: काव्यात्मक-रूपकादीनां श्रवणस्यैव प्रधानतयोपादानं वाक्यार्थात्मक-रसात्मकत्वात्। दृश्यं तु तस्य वाक्यार्थस्य किचिदाङ्गिकाभिनयपुर:सरवाचिकाभिनयनैव सहृदयेषु सङ्क्रान्तत्वात्। कथं वाच: सत्वेऽपि नीरसत्वं युज्यत उपक्षेपकस्य। अत: अस्या: कारिकाया व्याख्यान एव स्वल्पभ्रम: न तु कारिकारचनायाम्। वस्तुत: ''पदार्थ: पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन'' इति न्यायाद् विस्तरेण सह नीरसादेरन्वय: न तु वस्तुन:। वस्तुनो रसवत्वे समुचितत्वे च सत्यपि केवलं विस्तारे नीरसत्वानुचितत्वभिया उपक्षेपको रूपके स्वीकार्य:। अत: रूपकगतोपक्षेपकोपात्तवस्तुन: सर्वथा रसवत्ता, तया च सम्यक् काव्यत्वं सुस्थिरं भवति। भवतु चानुपात्तवस्तुनो नीरसत्वम्। अत: उक्तं नाट्यशास्त्रे ''काव्यश्लेषैर्बहुभिर्यथारसं नाट्यतत्वज्ञै:''। इति।

अत: वेणीसंहारे, राक्षसीरुधिरप्रियराक्षसयो: शोणितपानादिकमितिवृत्तं नानाशूरक्षयोपसूचकत्वेनोपक्षेपक: वीभत्सरसानुकूलश्च। एवमेव सर्वत्रोपक्षेपकविषये मन्तव्यम्।

यत्तु शाकुन्तले धीवरश्यालकादिसम्बन्धीतिवृत्तमुपनिबद्धं कविना तत्राङ्कत्वं वोपक्षेपकत्वं वेति विचारणीयम्। धीवरश्यालकादिभिर्यदुपस्थापितं न तदन्यसम्बन्धिवस्तु। विहितकार्यानुकूलस्येतिवृत्युपस्थापनं रङ्गे परिमिताङ्गिकाभिनयपूर्वकमस्त्येव। अत: दृश्यत्वश्रव्यत्वैकाधिकरणकत्वस्योपलब्धौ अङ्क एवास्तु किमुतोपक्षेपकत्वेन। पुस्तकोपलब्धविष्कम्भकप्रवेशकाभ्यां यथामति विद्वद्भि: स्वीकृताभ्यां किं प्रयोजनम्। किञ्चात्र सूच्यते, शापानुसार्यङ्गुलीयकदर्शनेन स्मारितशकुन्तलास्नेहावबोधे राज्ञि दर्शित एव। एतदवश्यमस्ति यद् नेतूराज्ञ: मञ्चे स्थितिर्नास्ति

प्रत्यङ्कनायकोपस्थितिरवश्यमिष्यते तर्हि भवत्वत्रोपक्षेपक: अन्यथा अत्राङ्क एव मन्तव्य:। अङ्कमध्ये अप्सरस: सानुमत्या: प्रवेशमारभ्य उभे - तह (तण)'' इति पर्यन्तं भवतु मिश्रविष्कम्भक:। निराकृतशकुन्तलायां स्नेहातिरेकोद्भूतविप्रलम्भानुकूलानुभाव सूचनाद् दु:ष्यन्तस्य। अस्तु प्रवेशकविष्कम्भकयोरुपक्षेपकयोरधिक-विस्तृतवस्तूपक्षेपणाय सूचकत्वेन संसूचकत्वमङ्काद्बहिर्भूतत्वञ्च वक्तुं शक्यते। कित्वङ्कास्याङ्कावतारयो: कीदृशी स्थिति:। अनयोरङ्कान्तर्गतत्वं वाङ्कबहिर्गतत्वं वस्तुन: सूचकत्वं वा दृश्यश्रव्यत्वं इति संदेहो जागर्ति। यद्यनयोर्दृश्यश्रव्यता स्वीक्रियते तर्हि अङ्कान्तपात एव ? न स्वीक्रियते तर्हि कथम्। अत्र सूच्यताऽस्ति वा न। सूच्यत्वमात्रे कथं अङ्कान्तपात:। नास्ति अङ्कान्तपातश्चेत् कथमङ्काद्भेदेन प्रवेशकादिवत् नोपादीयते इति। उच्यते -

अङ्कास्याङ्कावतारयोरङ्कान्तर्गतत्वेऽपि उपक्षेपकत्वं विद्वद्भि: स्वीकृतम्। अङ्कोपक्षेपकयोर्भेदकतत्वं सूच्य-दृश्यसूच्यवस्तुत्वं निर्धारितम्। चेत् सूच्यत्वमनयोरिष्टं न सूच्यदृश्यत्वं तर्हि अङ्काद्भेद:। किन्तु नाटकादिषु अङ्कान्तर्गतत्वमेवैतयो र्लभ्यते न पृथक्त्वम्।

अङ्कास्ये तु भाविनोऽङ्कस्य आस्यं पूर्वेऽङ्के लक्ष्यते। इत्थं पूर्वस्याङ्कस्यान्तभाग: उत्तराङ्कस्य मुखभागश्चैक एव। अत्रोत्तराङ्कस्या-नरम्भात् तदपेक्षयोपक्षेपकत्वं पूर्वाङ्कापेक्षया चाङ्कत्वमिति अङ्कानङ्काभ्या-मुभाभ्यां कर्षितत्वात् किमपि न वक्तुं शक्यते। यत्तु ''अङ्कास्यान्तपात्रेण छिन्नाङ्कमुखयोजनम् इति नाट्यदर्पणोक्त्या प्रथमाङ्कस्य छिन्नत्वं, छिन्नाङ्कत्वेनोपस्थापितम् कथं प्रथमाङ्कगतत्वमिति उच्यते - तर्हि ''छिन्नाङ्कमुखयोजनम्'' इत्यस्य वाच्यार्थ: स्पष्टीक्रियताम्। छिन्ने पूर्वेऽङ्के अङ्कस्य भाविनोऽङ्कस्य मुखयोजनम् इति अथवा छिन्नस्य पूर्वाङ्कवस्त्वसम्बद्धस्य भाविनोऽङ्कस्य मुखयोजनम् इति। तत्र नाद्यम्, पूर्वाङ्कस्य नास्ति प्रकृतवस्तुसमाप्तिरतश्छिन्नत्वं तस्य न घटते, द्वितीयश्चेत् भाविनोऽङ्कस्यात्र पूर्वाङ्कवस्त्व-सम्बद्धताऽपि न घटते। यतो हि असम्बद्धत्वं वस्तुना रसेन वा सम्भवति, अत्र भाविनोऽङ्कस्य

रसवस्तुभ्यां सम्बद्धमेव पूर्वाङ्करसवस्तु इति विशिष्टवस्तुश्लिष्टमेव मुखं पूर्वाङ्कान्ते उपादीयते नासम्बद्धम्। तर्हि कथं 'छिन्नाङ्कमुखयोजनम्' अथवा अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् इति दशरूपकेऽपि निर्दिष्टम्।

अस्तु अत्र छिन्नपदं व्युत्पादितव्यम्। छित्तिः छिन्नं चेत् विच्छितिः शोभाविशेषः। अतः रसवस्तुभ्यां विच्छिन्नस्य विश्लिष्टस्य विशेषतः पूर्वाङ्करसवस्तुपरिग्रहादाश्रितशोभाविशेषस्योत्तरस्याङ्कस्य मुखयोजनम्। अत्र पूर्वापेक्षया किञ्चिद्विशेषाधानेन वस्तुभेदो लक्ष्यते अतोत्र विशेषाधानात्मको भेदः स्वीकर्तव्यः, न तु पूर्ववस्तुपरित्यागपूर्वकान्य-वस्तूपादानात्मको भेदः। अतो विशिष्टाङ्कस्यविशेषार्थसूचनादङ्कास्यं मन्तव्यम्। यथा वीरचरिते पूर्वाङ्के शतानन्दजनकपरशुरामपात्राणां परशुराम-रोषात्मकवस्तुप्रयोगात्मके अग्रिमेऽपि अङ्के विशेषतः तस्य वस्तुनः प्रयोगः पूर्वेऽङ्के सुमन्त्रः नवीनमेकं पात्रमागत्य वशिष्ठ-विश्वामित्रपात्रद्वयसंयोजनाय ताभ्यामावाहनं निवेद्यते। तथा च पूर्वाङ्के "पापं वाञ्छसि कर्म राघवशिशावस्मत्सनाथे कथम्" इति जनकोक्तेर्विशेषेण कथनाय वशिष्ठविश्वामित्राभ्यां "सोयं त्वां तनयप्रियः परिणतो राजा शमं याचते" इत्युक्तिरस्ति। अतः वस्तुनो भेदो नास्ति न च रसस्य। अपितु केवलं पात्राधिक्यं दर्शितम्। शतानन्द जनकपरशुरामैः सह वसिष्ठविश्वामित्रावपि उत्तराङ्के समागतौ अतोऽङ्कान्तपात्रैः सहान्यान्यपि पात्राणि। अङ्कावतारे तु वस्तुपात्रादीनां समतयोपादानं भवति इति उभयोर्भेदः। उक्तञ्च नाट्यशास्त्रे -

विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमुच्यते।।[१]

अर्थात् भाविनोऽङ्कस्य रसवस्तुभ्यां विशेषेणश्लिष्टं विच्छित्ति-विशेषयुक्तं मुखं केनचित्पात्रेण यत्पूर्वमेवोपक्षिप्यते तदङ्कमुखं भवति। अत्र सुमन्त्रेण पूर्ववस्त्वादिविश्लिष्टमेव मुखमाक्षिप्तमिति अङ्कास्यं घटते। सूच्यत्वमत्रावाहनात्मकार्थस्य वशिष्ठविश्वामित्राभिसम्बन्धात्

सुमन्त्रस्यात्र सूचनेन (कथनेन) घटते। स्वेतरान्यवाक्यार्थ-स्याभिनयशून्यकथनात्मरूपलक्षणस्य केवलसूच्यस्य संघटनात्। अत: उक्तं सूच्यमेव भवेत् किन्चित् इति।

अङ्कास्यमिदमल्पतरसूचनात् भवति। विष्कभ्मकप्रवेशकयो-र्बहुसूच्यं भवति चूलिकायामल्पसूचनं मङ्कास्येऽल्पतरसूचनं तथा चाङ्कावतारेऽल्पतमसूचनं लभ्यते। अत: उक्तं नाट्यदर्पणे-''आद्यो सूच्ये बहावन्ये क्रमादल्पेतरे तमे''।। इति।

अङ्कावतारे तु अल्पतमसूचनं लभ्यते। यदुक्तम् -

''सोङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम्'' इति। अत्र तैरेव पात्रैस्ताभ्यामेव वस्तुरसाभ्यां युक्तमङ्कान्तरं अवतरति। अङ्कास्ये केनचित्पात्रेण भिन्नेङ्के अङ्कावतार इति अङ्कास्यम्, अत्र तु पात्रं विनैव एकस्मिन्नेवाङ्के। अत उच्यते -

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागत:। इति

अविभागतोऽङ्कान्ते अपरस्याङ्कस्यावतार:। अपराङ्कोऽयं न संख्येय अपि तु संख्याताङ्कान्तरापाती। अत: गर्भाङ्कोऽयम् इत्यपि। बीजार्थयुक्तियुक्ततामात्रमत्रलक्ष्यते, गर्भाङ्के तु समानवस्तुपात्रात्मकपूर्व-भाविनोरङ्कयोर्मध्ये भिन्नवस्त्वात्मबीज-कथाभिनयप्रवृत्तपात्रादिकत्वं लभ्यते इति गर्भाङ्कादस्यभेद:। अङ्कावतारो यथा मालावकाग्निमित्रे, विदूषको द्वावपि आचार्यौ रङ्गशालात: दूतं विसर्जयितुं निवेदयति पुनश्च रङ्गान्तरं जायमान: मृदङ्गशब्दएव राजानमुत्थापयिष्यति इत्यपि वदति। तदनन्तरं तस्मिन्नेवाङ्के मृदङ्गशब्द: श्रूयते। मृदङ्गशब्द-श्रवणानन्तरं प्रथमाङ्कस्य सर्वाणि पात्राणि रङ्गशालां गन्तुमुद्युक्तानि। द्वितीयाङ्कादौ च सर्वाणि पात्राणि प्रथमाङ्कान्तपात्रसक्रान्ति-दर्शनमारभन्ते इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतारणादङ्कावतार: इति।। नाट्यशास्त्रे यथोक्तम् -

अङ्कान्त एव चाङ्को निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य।
बीजार्थयुक्तियुक्तो ज्ञेयो ह्यङ्कावतारोऽसौ।।१०

अस्यायमभिप्राय:, अङ्कान्ते योऽङ्को बीजार्थयुक्तियुक्तो निपतति सोऽङ्कावतार:। अत्र बीजार्थयुक्तियुक्त इति पूर्वाङ्कस्थबीजार्थ-युक्तियुक्तो बोध्य:। अङ्कान्ते कश्चनाङ्क एवाङ्कावतार:। किन्तु न गर्भाङ्क:। भेदस्योपरि दर्शितत्वात्। अत: सत्यपि अङ्कत्वेऽस्य कथमुपक्षेपकत्वमिति दुरूहं प्रतिभाति। मम दृष्टौ तु मृदङ्गशब्दं श्रुत्वा पूर्वाङ्कस्थानि तान्येव सर्वाणि पात्राणि द्वितीयेऽङ्के तदेव वस्तुबीजं विस्तारयन्ति दृश्यन्ते। अत्र मृदङ्गशब्द एव सुसज्जसङ्गीतोपकरण-रङ्गमागमयितुं पात्राश्रितवागाभिनयं विनैव प्रेरयति इति सूक्ष्मं सूच्यम्। मृदङ्गशब्दस्य सूचकत्वेऽपि अङ्कान्तरवर्तिशब्दसान्निध्येन तस्य काव्यत्वहानि र्न सम्भाव्या। केवलस्य मृदङ्गशब्दस्य काव्यत्वहाने: अत रसार्णवसुधाकरे-

पात्रेणाङ्कप्रविष्टेन केवलं सूचितत्वत:।
भवेदङ्कादबाह्यत्वमङ्कास्याङ्कावतारयो:।।

अङ्कादवाह्यत्वादङ्कत्वं, सूचितत्वत: उपक्षेपकत्वञ्चोभयं प्राप्तम् इति भाव:।

चूलिकाया उपक्षेपकत्वं स्पष्टं नेपथ्यगतपात्रोक्तत्वात्। नेपथ्यं रङ्गभूमेश्चूला (चूडा) तत्रस्थपात्रोक्तत्वात् चूलिकेति सार्थकं नाम। उत्तररामचरिते नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकया आत्रेयीप्रवेशात्मवस्तु सूचनाच्चूलिकोपक्षेपक:। अत्र यद्यपि वासन्तिका स्वोक्त्यैव वाचिकत्वमुपस्थापयति न स्वेतरपात्रस्थपदार्थस्य तथापि नेपथ्येनो-क्तत्वात् रङ्गभूमौ वाचिकोपस्थापितपदार्थादृश्यत्वात् सूच्यम-विच्छिन्नमेव। अत: सूच्यमेव भेवदिति लक्षणं चूलिकायां घटते।

इत्थं सूच्यदृश्यश्रव्यवस्तुविवेकेन अङ्कोपक्षेपकयो: दृश्यसूच्ययोर्वा विभागं प्रस्तुत्य रसस्य विवेक: प्रारभ्यते। यश्च काव्याकाव्यात्मके सर्वत्र नाट्यमात्रे लभ्यते।

रससूत्रविवेकः

तत्र कोऽयं रसः इति

१. किं नाट्ये ये रसाः पठ्यन्ते ते रसाः। उताहो वैणाङ्किकादिभिरपि प्रस्तूयन्ते ?

२. किं रसः सर्वेषां नाट्यार्थानां प्रवर्तकः, उताहो सर्वोऽपि नाट्यार्थो रसानां प्रवर्तकः ?

३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्सनिष्पत्तिः इत्यस्य कोऽभिप्रायः।

अत्र विभावः, रामादिः अथवा रामादेरनुकर्ता नटः, उताहो नटे रामत्वमित्येव प्रतीति र्न नटत्वादेः? विभावः कारणं, लिङ्गम् वा? कस्य कारणं, स्थायिनो वा रसस्य? उभयोर्वा? लिङ्गत्वे सति कस्य लिङ्गम्। लिङ्गत्वेऽपि सत्यतया वाऽसत्यतया। लिङ्गस्यासत्यत्वे कथं लिङ्गिनो रत्यादेः सत्यतः सुखात्मकत्वम्? विभावस्य काव्यानुसन्धानं वा नेति। अनुकारः विभावे घटते वा न? अनुकारोऽपि वेषस्य वा वस्तुवृत्तस्य। सांख्यदृशा किं सुखदुःखजननशक्तियुक्ता वाह्यसामग्री वा न ? विभावः प्रत्यायकः, उत्पादकः अभिव्यञ्जकः भावको वा? इत्यादिकं बहुधा विकल्प्यते।

तत्र रससूत्रम् – विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। सूत्रेस्मिन् पदद्वयम्। द्वेऽपि पदे समस्ते। पूर्वं पञ्चम्यन्तं द्वितीयं प्रथमान्तम्। समस्तपूर्वपदे पदचतुष्टयम्। उत्तरसम्मस्तपदे पदद्वयम्। प्रत्येकं पदं किमर्थकम्। विभक्तेश्च कीदृशः अर्थः इति बहुधा बहुभिराचार्यैः प्रदर्शितम्। तत्र ''हेतौ'' इति सूत्रेण निर्दिष्टा पञ्चमी विभक्तिः। तया अर्थप्रतिपादने ये ये हेतवः सम्भाव्यन्ते ते नैकाः। क्वचिद् अभिधा क्वचित् तात्पर्या, क्वचिदनुमितिः क्वचिद् भुक्तिः, क्वचिदभिव्यक्तिः, क्वचिद् दोषविशेषः। संयोगोऽपि सम्यग्योगतया विभावादिषु त्रिष्वपि पदेषु प्रत्येकं सम्भूय, स्वोत्तरोपात्तविभक्त्यर्थहेतुना सह योगं, नानाविधतया विधत्ते। एतेषां सर्वेषां योगः अनुपात्तस्थायिना

सह दर्शितः। द्वितीयपदं रसोऽपि नैकविधः। यैर्यै र्हेतुभिः सह सम्बध्यते तथा तथात्मानं परिणमति। स सिद्धोऽपि व्यापाररूपोऽपि चर्वणारसनादिनाऽपि रसपदमुपचरितमित्यादिना नानाशेमुषीभिः नानाप्रकारेण सूत्रस्यास्याभिव्याख्यानं विहितम्। यतो हि अयं नाट्यरसः, अतः नाट्याद्रसः नाट्यमेवरसः नाट्येरसः, नाट्यमाश्रित्य रस इति बहुधा विभक्तः। तत्र शनैः शनैः सर्वेषां मतानां दर्शनं विधीयते।

तत्र सूत्रस्थविभावादिषु प्रत्येकं रसः इति स्वीकुर्वद्भिः, शुद्धो विभावो रसः शुद्धोऽनुभावो रसः, शुद्धो व्यभिचारिभावो रसः तत्संयोगश्च रस इति विकल्प्यते। अत्र द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणा या विभक्तिः सा प्रत्येकमभिसम्बध्यते, विभावाद्रसनिष्पत्तिः, अनुभावाद्रसनिष्पतिः, व्यभिचारिभावाद्रसनिष्पत्तिः तत्सयोगाद्र-सनिष्पत्तिः इति सूत्रं व्याख्याय, कार्यकारणयोरभेदोपचाराद् विभाव एव रस इत्यादिकं स्वीकृतम्। एतेषां मतेषु शुद्धविभावादिनाऽपि रसनिष्पत्तिर्दृश्यते यतोहि विभावादयः प्रत्येकं भावरूपाः। भावाच्च रसनिष्पत्तिर्दर्शिता। भावस्यसत्वे औपाधिकव्यनूपर्सगादिभिरुपाधिभि-र्विभावानुभावादयो विभजितुं शक्याः। यथा -

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुर्य वपुस्ते दृशो-
भङ्गी, भङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आध्यातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः,
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेका कृतिः।।

अत्र कामिनीरूपविभावो वर्णितः। नात्रायं विभावः अपि तु रसानुकूलभावमात्रत्वेन गृहीतः। अतः केली-विभ्रम-भङ्गुर-नर्म-वचोमहिम्ना अनुभाववर्गः, भङ्गी-क्रमविकारादिभ्यः औत्सुक्यो-न्मादचापलादिव्यभिचारिभाववर्गः स्वयमेव परिकल्पयितव्यः। अत्र केवलं वाच्यो विभाव एव रसः। एवमेव केवलमनुभावस्योदाहरणम्।

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने,
यद्गात्राणि दरद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।

दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः।। इति

अत्र विश्रम्येत्यादिना विश्रान्तिलक्षणस्तम्भः विलोकनवैचित्र्यं गात्रतानवतारतम्यं पुलकविवर्णत्वादिश्चाऽनुभावो वर्णितः। आनुषङ्गिकतया कृष्णेत्यादिना विभावः, उक्तानुभावो, मोहादि-व्यभिचारिभावश्च विकल्पनीयः। केवलं व्यभिचारिणो यथा –

दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं,
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि।।

अत्रौत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां च केवलानां व्यभिचारिणां स्थितिः। किन्तु अनुभावाभिव्यक्तत्वादनुभावानां, "मानिन्याः, प्रेयसि, पदाभ्यां, विभावस्यानुषङ्गिकतायाः स्वयमेवोपादानं भवति। अतः एतेषु केवलं एकोऽपि रसः भवितुमर्हति। एकस्यैव काव्योपात्तत्वात्। अतः नाट्ये रस इति धिया एक एव नाट्यरसः।

केवलं तत्संयोगोऽपि रसः इत्येके। एतेषामभिप्रायस्तु अनौचित्यादिना प्रवृत्तो विभावादिर्न रसः, अपितु औचित्येन प्रवृत्तेन विभावादिना स्थायी संयुज्यते अतस्तत्संयोग एव रसः। अन्यथा विभावादौ कश्चनापि न रसः।

अतः उक्तं त्रिषु यश्चमत्कारी स एव रसः अन्यथा त्रयोऽपि न इति।[११] उक्तञ्च ध्वन्यालोकलोचने – "अन्ये तु शुद्धं विभावं, अपरे शुद्धमनुभावं केचित्तु स्थायिमात्रं इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम् एके अनुकार्यम् केचन सकलमेव समुदायम् रसमाहुरिति"।।[१२]

सूत्रे स्थायिभावस्यानुपादानेऽपि तस्यैव रसरूपतयास्वादने सर्वभरसहिष्णुत्वाद् रसरूपत्वे न कस्यचिद्विमतिः, स्थायिमात्रमेव रसः अनुकार्यमात्रञ्च रसः इति अग्रे वितनिष्यते। अतः केवलं विभावादिषु प्रत्येकं रसः इति मतेषु सूत्रविरोधः न कल्पनीयः।

एकस्यापि सम्यग्योगाच्चमत्काराच्च रसनिष्पत्तिर्भवितुमर्हति। भावरूपत्वेनैकेनान्यद्वयस्य भावरूपस्याक्षेप्तुं शक्यत्वात्।

त्रयाणां संयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति स्वीकुर्वत्स्वाचार्येषु प्रथमं अभिधया रसनिष्पात्तिरिति स्वीकारे **आचार्यभट्टलोल्लटः** -

एतन्मतानुसारेण विभावः आलम्बनोद्दीपनकारणम्, अनेन कारणेन रामादिषु अनुकार्येषु रत्यादिको भावो जनितः। अत्र रसपदेन रत्यादिस्थायिभावो गृहीतः, संयोगस्य कार्यकारणभावरूपार्थः। रामादौ जनितो रत्यादिः स्वकार्येणानुभावादिना सम्यगनुमितः, प्रतीतो वा भवति, अतः अनुभावेन सहानुमेयानुमापकत्वं प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वं वा संयोगपदस्यार्थः। व्यभिचारिभिस्तु स एव रामादिगतो रत्यादिः पोषितः, अत्र संयोगस्य पोष्यपोषकाभावः, एवञ्च प्रत्येकं विभावादिना सह रत्यादेः स्थायिभावस्य सम्यग् यथोचितं जन्यजनकभावेन, प्रत्याय्यप्रत्यायकभावेन पोष्यपोषकभावेन च योगाद् रसस्य स्थायिनः रत्यादेर्निष्पत्तिः इति सूत्रार्थः। काव्यनाट्यसमर्पितरामादिसंज्ञाभृदनुकार्ये स्थाय्यात्मा यो रत्यादिः सः अभिधयैव मुख्यया वृत्यैव वा प्रतिपाद्यते। नर्तके तु तद्रूपतानुसन्धानाल् लक्षणयेति। सामाजिकैस्तु तटस्थतया तत्रस्थो रत्यादिरसः आरोप्य साक्षात्क्रियते इति मम्मटः। अभिनवगुप्तस्तु सामाजिकं प्रति न किमपि ब्रूते अभिनवभारत्याम्।

अत्र रसपदेन यः स्थायिभावो गृहीतः स अनुभावं प्रति कारणस्ति। अतोत्र हेत्वर्थक पञ्चमीविभक्तेरुपादानमेतद्प्रतिपादयति यद् रसपदमिदं न केवलं स्थायिमात्रमपि तु उपचितस्थाय्यात्मक-रसस्वरूपमपि प्रतिपादयति। अतः उपचितस्थायिभावात्मकरसं प्रति अनुभावस्य कारणत्वं, स्थायिनं भावं प्रति कार्यत्वमिति। रसोऽपि द्विविधः एको लौकिकः रामादिगतः द्वितीयश्च नटसामाजिकादिगतो अलौकिकः इति सुधीभिर्ध्येयः। उक्तं रसमञ्जरीकारेण - रसो द्विविधः, लौकिकः अलौकिकश्च। उक्तञ्चाभिनवगुप्तेन-

"विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पतिः।"

"विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च

न रसजन्याः, अत्र विवक्षिताः तेषां रसकारणत्वेन, गणनानर्हत्वात्''। इति। रसकारणत्वं तु हेत्वर्थकपञ्चमीविभक्त्युपादानाद्। इति स्पष्टम्। अतः स्थायिजन्या अनुभावा इति विव्रियते। अत्र नाट्ये रसः इति नाट्यरसो विवृतः।

लोल्लटमतखण्डनम्

भट्टलोल्लटस्यास्य मतस्योत्थाने मुनिवचनमिदं प्रतिभाति - ''रसपूर्वकत्वं भावानाम् भावपूर्वकत्वं रसस्य, विषयविशेषापेक्षया प्रयोगे ह्यनुकर्तरि रसानास्वादयतामनुकार्ये भावप्रतीतिरुत्पद्यते'' इति।

मतेऽस्मिन् एतत्स्पष्टं यद् मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिधेयप्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते। साक्षात्कारश्च दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमान् इत्यादि। दुष्यन्तादिधर्म्यंशे लौकिकः आरोप्यांशे त्वलौकिकः।

अत्र आचार्यशङ्कुकमतमुपस्थापयन्नभिनवपादोऽभिनवभारत्यां दोषं दर्शयति - एतन्न इति श्रीशङ्कुकः। सूत्रस्थरसनिष्पत्तिरित्यत्र रसस्य कोऽर्थः। चेत् स्थायिभावस्तदानीं विभावादिभिः स्थायि–निष्पत्तिरिति वक्तव्यम्। यदि उपचितस्थाय्यात्मकरसनिष्पतिरिति तर्हि प्रष्टव्यम् स्थायी कुतो लब्धो भवद्भिर्येन सह विभावादीनां यथोचितं योगः स्वीक्रियते। विभावादिसंयोगात् स्थायी प्रतीतश्चेत् तदानीं संयोगस्य लिङ्गत्वमर्थः कार्यः। केवलं हेतोर्वाच्यत्वेऽपि साध्यस्य प्रतीतिरिष्टा । यतो ह्युक्तम् -

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः।।

अतोऽत्र हेतुत्वेन विभावादेरुपादानात् साध्यत्वेन स्थायिनो बोधो निर्विवादः। तत्तु भवद्भिर्न स्वीकृतम्। सूत्रे स्थायिनोऽनुपादानान्न साक्षात् विभावादियोगः, तदयोगे स्थायिनो लाभाय, संयोगस्य लिङ्गत्वमर्थः स्वीकार्यः अन्यथाऽवगत्यनुपपत्तिः। अतः उच्यते ''विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेः'' इति।।

चेद् रसेन स्थायी उच्यते तर्हि स्थायिनो भावत्वाद्, भावानां च रसात् पूर्वामिधानोपयुक्तत्वात्, तस्यापि पूर्वाभिधेयताप्रसङ्गात्। अत: उच्यते - ''भावानां पूर्वाभिधेयताप्रसङ्गात्''। इति

चेद् विभावादिभि: संयोगोऽर्थात्स्थायिनस्ततोरसनिष्पत्तिरिति तदानीं संयोगस्य उत्पत्तिरेवैकोऽर्थ: विधातव्य: न तु प्रतीत्यादि:। यतोहि मुनिराह- वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक:। स चासंमोहाध्यवसाय-नयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते इति। पुनश्च स्थायिभावानुवादे तु उत्साहो नामोत्तमप्रकृति:। स चा-विषादशक्तिसौन्दर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते इति। न चोत्पत्तौ विभावादि-पदार्थानां कारणत्वमभिधाय, पुष्यतां पुन: तेषां, पोषोत्पत्तिकारणम-भिधातव्यम् वैयर्थ्यापत्ते:। यतो हि रसलक्षणे विस्तरशो विभावा, भावलक्षणे अल्पशो विभावा, मुनिनोपात्ता: स्वयमेवोपचितत्वं रसलक्षणे प्रदर्शयन्ति। अत: पोषकत्वादिलक्षण- वैयर्थ्यापत्ते:। अत: उक्तं ''स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्'' इति।

यदि च अनुपचितावस्थ: स्थायी भाव:, उपचितावस्थो रस इत्युच्यमाने एकैकस्यैव स्थायिभावस्य अनुपचितावस्थाघटकमन्द-मन्दतर-मन्दतम-मन्दमध्येत्यादिविशेषापेक्षया आनन्त्यापत्ति:, एवञ्चोपचितावस्थाघटकतीव्र-तीव्रतरतीव्रतमादिभिरसंख्यत्वं प्रपद्यते। अत उक्तं-''मन्द-मन्दतरमन्दतममन्दमध्याद्यानन्त्यापत्ते:'' इति। माध्यस्थ्य- इति पाठश्चिन्तनीयोऽभिनवभारत्यां निर्दिष्ट:।

चेत्, उपचयकाष्ठां प्राप्त एव रस उच्यते तर्हि स्मितम-वहसितादिकै: षोढात्वं हास्यरसस्य कथं भवेत्। अत: उक्तं-'हास्यरसस्य षोढात्वाभावप्राप्ते:। तथाहि, अभिलाषार्थचिन्तनानुस्मृति गुणकीर्तनोद्वेगविलापोन्मादव्याधिजडतामरणेषु दशसु कामावस्थासु दशसंख्याता: शृङ्गाररतिभावादय: प्रसज्जेरन्। अत: उक्तं-''कामावस्थासु दशसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्'' इति।

यच्चोक्तं प्रागवस्थाभाव: स्थायी रसीभवति तु क्रमेणोपचित इत्यत्रापि विपर्ययो दृश्यते। यत: - इष्टजनवियोगाद्विभावादुत्पन्नो

महान् शोकः, क्रमेणोपशाम्यति न तु दार्ढ्यमुपैति। क्रोधोत्साहरतीनां च निजनिजकारणबलादुद्भूतानामपि कालवशात् क्रमेणामर्षस्थैर्य-सेवाविपर्ययेऽपचयोऽवलोक्यते। यथोक्तम्- ''शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं, क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्पये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च'' इति

यथोक्तमभिनवभारत्याम् - ''विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात् स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानत्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाम-मर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्यपस्य दृश्यमानत्वाच्च'' इति।[१३]

शङ्कुकमतम्

अथ शङ्कुको व्याख्याति सूत्रमिदम् -

विभावा हेतवः नटैःकाव्यबलादनुसंधेयाः अनुभावाः कार्याणि शिक्षातोऽनुसन्धेयाः, व्यभिचारिणः सहचारिणः, कृत्रिमनिजानुभावा-र्जनबलाद् अभ्यासाद्वा अनुसंधेयाः। अनुकर्तृनटस्थत्वेन कृत्रिमैरपि एभिर्विभावादिशब्दवाच्यैर्हेत्वादिभिः, कृत्रिमत्वेनानभिमन्यमानैः, संयोगाद् लिङ्गबलाद् अनुमीयमानः (प्रतीयमानः) स्थायी भावः, मुख्यरामादि- गतस्थाय्यनुकरणरूपः अतएवानुकरणरूपत्वादेव रसनाम्ना व्यपदिश्यते। इत्थं नटादिगतः कृत्रिमहेत्वादिभिर्गम्यः कृत्रिमनटादि- गतस्थायिभावः अनुक्रियमाणत्वाद् रसो भवति।

सूत्रे यत् स्थायी नोपात्तः, तेनेदं स्पष्टीक्रियते यत् स्थायी सर्वथा नाभिधेयः अपितु अभिनेय एव, अतः काव्यबलादपि नानु-सन्धीयते इति। अभिनेयत्वेन गम्यत्वं तेन संयोगस्य लिङ्गलिङ्गि-भावोऽर्थः स्पष्टो भवति। यत्तु, वाचोपस्थाप्यते तदभिधेयतामवगाहते यत्तु वाचिकाभिनयेनाभिनीयते तत्तु नाभिधीयते अपितु अभिनीयते। अतः न वागेव वाचिकम्, अवगमनशक्तिर्हि अभिनयोवाचकत्वा-

दन्या। अत:

"वाडवेनेव जलधि: शोक: क्रोधेन पीयते"

'शोकेन कृत: स्तम्भ:' इत्यादौ शोको नाभिनेय: अपि त्वभि-धेय:।

"भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या वाष्पाम्बुशीकरकणौघ:।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि"।[१४]

इत्यत्र स्वार्थमभिदधता वाक्येन उदयनगत: सुखात्मा रति: स्थायीभावोऽभिनीयते न त्वभिधीयते उच्यते वा। अत: स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्। तेन कृत्रिमा अपि रति: अनुक्रियमाणा, शृङ्गार इति। इत्थं शृङ्गारोऽनुक्रियमाणरत्यात्मक: अथवा अनुक्रियमाणरत्युद्भूत:।

ननु कथं कृत्रिमत्वेन प्रतीता रतिर्मिथ्यात्वेपि अनुक्रियमाणत्वेन सुखादिविशेषार्थक्रियां जनयतीति ? उच्चते। मिथ्याज्ञानादपि अर्थक्रिया दृष्टाऽस्ति यथा -

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतो:।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।।

मरकतकुट्टिमपतितयोर्मणिप्रदीपाभ्यामुद्भूतयोर्द्वयो: प्रभयो: कयोश्चिद् द्वयोर्जनयोर्मणिबुद्धिर्जायते। अमणिभूतप्रभयोर्मणिबुद्ध्या-भिधावतोरुभयोरपि जनयो: समानतयैव मिथ्याज्ञानं तिष्ठति। किन्तु यो मणिप्रभां मणिमवगत्य धावति स: उपप्रभं मणिं प्राप्नोति, यस्तु दीपप्रभां मणिमवगत्य धावति स मणिं न लभते अत: अर्थक्रियां प्रति विशेषो भवति।

इत्थं यथा प्रभायां मणित्वेन भिथ्याज्ञानादपि (अर्थक्रिया) मण्युपलब्धिरूपार्थक्रिया तथैव कृत्रिमत्वेन विभावादौ मिथ्याकारणा-दिज्ञानादपि सुखविशेषरामादिगतरत्यादिरूपार्थक्रिया लभ्यते।

य: खलु अनुकर्ता नट:, तत्र, नट एव, सुखी राम इति सम्यक् प्रतिपत्तिर्न भवति। न च अयमेवराम इति मिथ्याप्रतिपति:। न च अयं न सुखीति, राम: स्याद्वा न वायमिति संशयप्रतिपत्ति:,

न चापि रामसदृश इति सादृश्यप्रतिपत्तिः, अपितु सम्यङ्मिथ्या-संशयसादृश्यप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षणा ''यः सुखी रामः, असावयमि'' ति चित्रतुरगादिवत्प्रतीतिर्भवति। अत आह –

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि।
विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितविप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कथम्।।

अत्र बुद्ध्यसंभेदात् इत्येव पाठः काव्यप्रकाशे साहित्यचूडामणौ लभ्यते न बुद्धिसम्भेदादिति। ''कया'' इत्यस्य स्थाने कथमितिपाठः। अस्यायमभिप्रायः – रामोऽयमिति नटे प्रतिपत्तौ न सन्देहः न तत्वं (सम्यक्) न विपर्ययः (मिथ्या) प्रतिभाति न, च असौ, अयम्, न, असौ एवायम्'' इति धीः, इत्थं विरुद्धबुद्धेरसम्भेदात् चित्रतुरगादिन्यायेन ''यः सुखी रामः असावयमिति धिया (विप्लवः) अबोधितविघ्नः अनुभवश्चेतसि स्फुरन् कथं प्रमाणेन पर्यनुयोजनीयः ? अर्थात् अनुभवः, प्रमाणेन युक्त्या वा सर्वथा न प्रमितव्य इतिभावः।

मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपो रसः। अनुकरणरूपत्वादेव स्थायिभिन्ननामान्तरेण रसेन व्यपदेशः। इति।

शङ्कुकमतखण्डनम्

अत्र अनुकारः कः। अनूपपदस्य अर्थद्वयं सम्भाव्यते सादृश्यं पश्चाच्च। तत्र चेत् सादृश्यार्थस्तदानीं सदृशकरणमित्यर्थोऽनुकारस्य। मुख्यरामादिगतरत्यादिसदृशकरणं केन सम्भाव्यते। विभावानुकरणेन अनुभावानुकरणेन, भावानुकरणेन अथवा एतदनुमितरत्यादिना मुख्यरामादिरत्यनुकरणेनेति। अत्रानुकरणमपि सामाजिकप्रतीत्य-भिप्रायेण, नटाभिप्रायेण वस्तुवृत्तविवेकव्याख्यातृबुद्ध्यभिप्रायेण। तत्र नटाद्यभिप्रायेण सदृशकरणे विभावस्य त्रयो दोषाः। नाट्यं हास्याय भवतीत्याद्यः, नोपदेशप्रयोजनायेति द्वितीयः, रामादेर्विभावस्या-प्रत्यक्षत्वमिति तृतीयः।

कस्यचिद्राजपुत्रादेः केनचिद् नटेनानुकरणाद्विकृतिः समुपजायते यया मध्यानां हासफलमेव भवति न सुखात्मकानन्दः। यथोक्तं-
"परचेष्टानुकरणाद्हास्यः समुपजायते इति"[१५]

दैत्यादिचेष्टानुकरणादिना दैत्यादौ कदाचिद् द्वेषासूयादिकं जायेत, तद्बुद्ध्यैव दैत्यानां हृदयक्षोभः एवंभूता वयमुपहासभाजनमिति। उपाहास्यताभीरवश्च ते नाट्यात् निवर्तन्ते, ततः न तेषूपदेशात्म-प्रयोजनसिद्धिः। इति द्वितीयः। रामादेश्चपरोक्षत्वात् न तस्या-नुकरणसम्भवः। किञ्चिद्धि प्रमाणेनोपलब्धं तदनुकरणमिति वक्तुं शक्यम्। यथा एवमसौ सुरां पिबति इति सुरापानानुकरणत्वेन पयःपानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिमिमीते प्रतिमातिवा। इह च नटगतं किं तदुप-लब्धं सदनुकरणतया भाति इति चिन्त्यम्।

चित्तवृत्तिरूपरत्यनुकरणाय नटगतानुभावः कारणं मन्येत चेत्, तन्न। नटगतानुभावस्य बाह्यत्वाद्जडत्वेन, बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वेन, चित्तवृत्तिरूपरत्यादेर्भिन्नाधिकरणत्वेन च ततोऽतिवैलक्षण्यात् कथं अनुभावेन चित्तवृत्यनुकरणं सम्भाव्यते। "मुख्यानुकार्यावलोकनेन च तदनुकरणप्रतिभासः," न केचनापि रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः। अतः न रत्यनुकारः सम्भवति। रामानुकारो नट इत्यपि निरस्तः प्रवादः।[१६]

तथा च सामाजिकेष्वेव नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृङ्गारइत्युच्यते तत्रापि किमात्मत्वेन सा प्रतीयतइति चिन्त्यम्। यदि प्रमदादिभिः कारणैः कटाक्षादिभिः कार्यैर्धृत्यादिभिः सहचारिभिर्लिङ्गभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा, कारणरूपा, सहचारि-रूपा च नटगता चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्ना न तु रत्यनुकारेणेति दूरे रत्यनुकरणतावाचोयुक्तिः।

ननु विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिकाः। तत्कारणता अनुकर्तरि नटे न तथा, अतएव तत्प्रतीयमानं रत्यनुकरणबुद्धेः, कारणम् इति चेत् तत्र पृच्छ्यते, अतत्कारणादिरूपा अपि विभावादयः काव्यशिक्षादिबलोपकल्पिताः कृत्रिमाः सन्तोऽपिसामाजिकैः कृत्रिमत्वेन

गृह्यन्ते नवा? यदि गृह्यन्ते तदा कथं तैर्मिथ्याभूतैर्लिङ्गैः रतेरवगतिः। सुशिक्षितेनापि, कारणान्तरप्रभवेषु कार्येषु सत्सु न तेन कार्येण कारणान्तरवस्त्वन्तरस्यानुमानं कर्तुं युज्यते अपि तु स्वकारणरूपवस्तुन एव। अशिक्षितेनापि तस्यैव कार्यस्य हेतुत्वेन ज्ञाने तत्प्रसिद्ध-कारणस्यानुमानं क्रियते, यथा वृश्चिकविशेषाद्गोमयस्यैवानुमानम्। वृश्चिकस्यैव तत्र यदि मिथ्याज्ञानं स्यात् तदा कथं मिथ्यालिङ्गज्ञानात् तदनुकारानुमानं स्यात्। नहि धूमत्वेन ज्ञाताद्वाष्पात् प्रतिभासमानादपि लिङ्गात् तदनुकारानुमानं वह्निसदृशान्यपदार्थानुमानं युक्तम् अन्यथा धूमानुकारत्वेन ज्ञायमानाद् नीहाराद् अग्न्यनुकारजपापुञ्जप्रतीतिर्दृश्येत। तन्न दृश्यते। अतः यथा मिथ्याधूमाद् नीहाराद् वह्निसदृश-रक्तजपापुञ्जानुमितिर्न भवति तथैव कृत्रिमविभावादिमिथ्यालिङ्गज्ञानात् रत्यनुकाररामादिरतिः न प्रतीयते नानुमातुं शक्यते।[१७]

चेत् उच्यते - अक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भातीति। सत्यम्-भ्रुकुट्यादिरचनया क्रुद्धेन सदृशः स भाति। किन्तु नैतावता कश्चिदनुकारः सेत्स्यति। यतो हि सामाजिकानां न तत्र नटे रामादिसदृशत्वप्रतीतिः न च भावशून्या प्रतिपत्तिः अतः भावात् स्थायिप्रतिपत्त्या नान्यरत्यादिसदृशरत्यादिस्थायिप्रतिपत्तिर्वक्तुं शक्या। अतः तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचोयुक्तिः।[१८]

चेद् रामोऽयमिति प्रतीत्यां सम्यग्मिथ्यासंशयसादृश्यादि-विरुद्धबुद्धीनामसंभेदाय चित्रतुरगादिन्यायो स्वीकृतस्तदपि न युक्तम्। रामोऽयमिति प्रतिपत्तिः तत्काले (नाट्यरङ्गकाले) जातेऽपि तदुत्तरकालभाविबाधकस्य जागरूकत्वात् कथं न नटात्मकतत्वज्ञानं भवति। अथवा बाधकप्रत्यक्षादिसद्भावेऽपि कथं न ''रामोऽयमिति'' ज्ञानं मिथ्या भवति। वस्तुलभ्यनटत्वेन वृत्ते ज्ञाने न यावद् नटत्वबुद्धिबाधकस्योदयः तावद् रामत्वेन मिथ्याज्ञानमेव तत्र स्यात्। तेन रामोऽयमिति प्रतिपत्तावपि विरुद्धबुद्धिसंभेदः अस्त्येव कथं च विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितविप्लव'' इत्युच्यते। तस्मिन्नर्तक इव नर्तकान्तरेऽपि रामोऽयमिति प्रतिपत्तिर्भवति, अतः रामत्वं

सामान्यमायातम् न विशेषरामाभेदप्रतिपत्तिर् इति । तदात्वे रामत्वेन निश्चितं ज्ञानमुत्तरकाले बाधकवैधुर्याभावात्तत्वज्ञानं, (प्रत्यक्षादि) बाधकसद्भावे मिथ्याज्ञानं, निर्बाधवस्तुज्ञाने, मिथ्याज्ञानमेवेति विरुद्धभेदसंभेदः। कथमुच्यते विरुद्धबुद्ध्यसंभेद इति।[१९]

तथा यदुक्तं विभावाः काव्यादनुसंधीयते अनुभावः शिक्षात, इति।

तत्र कीदृशमनुसन्धानम्। नटस्य ममत्वेनेति न, नहि नटस्य "ममेयं सीता काचित्" इति स्वात्मीयत्वे प्रतिपत्तिः। यदि सामाजिकस्यैतादृशी प्रतिपत्तिरित्यात्मकमनुसंधानम् तर्हि स्थायिन्यपि अनुसंधानं निर्बाधमेव। अनुसंहितस्यैव स्थायिनः मुख्यत्वे रामत्वेनानुसंहिते नटे मुख्यस्थायीति" सामाजिकानां प्रतिपत्तिः सुनिश्चिता। तस्मात् सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत्।

इत्येतत्पर्यन्तं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेणेति यत्प्रथमपक्ष उद्दिष्टस्तस्योद्घाटनं कृतम्।[२०]

नटाभिप्रायेण तु अनुकारविषये निष्कर्षरूपेणैतद् भवति - प्रथमं तु नटो न रामादेः प्रकृतिं पूर्वमुपलब्धवान् यस्याः सदृशं कुर्यात्। पश्चात्करणञ्चेत् अनुकरणं गृह्येत तर्हि लोकेऽपि अतिव्याप्तिः स्यात्। लोकेऽपि पश्चात्करणस्य सत्वात्। चेद्रामादेर्विशेषस्य त्यागपूर्वकं केवलमुत्तमप्रकृतेः समान्यस्य शोकानुकारो न तु नाट्यवेषाद्यनुकार इत्युच्येत तदपि न। यतोहि शोकस्यानुकारः न शोकेन कर्तुं शक्यते अमूर्त्तत्वात्। न च नटे शोकोऽस्ति कथञ्च शोकानुकारः संभवेत्। चेत् शोकानुभावेनाश्रुपातादिना शोकानुकारः तदपि न। नहि अमूर्तस्य मूर्तेनानुकार सम्भवः। ये शोकानुभावास्ता-ननुभावैरेवानुकरोमीति चेद् विशेषरूपेण रामादिं विना अनुभावानुकरणं न संभवति। चेत् सामान्यादिना रोदनादेरनुभावरूपानुकरणं तर्हि विना विशेषं न सामान्यमिति सामान्ये नटस्यापि प्रवेशात् कथं स्वानुभावस्यैव स्वेनानुकरणं सम्भवेत् इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः।

चित्तवृत्तिसाधारणीकरणभावेन हृदयसंवादात्केवलमनुभावान् प्रदर्शयन् नटश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रे नानुकारो घटते, यतोहि नात्र यथा कान्तया कान्तवेषानुकारः न तथा रामचेष्टितस्यानुकारः। न च वस्तुवृत्तस्याप्यनुकारः। यतो हि अनुसंवेद्यमानत्वेन स्थितेनामूर्तवस्तुना वाह्यवस्तुवृत्तत्वानुकरणानुपपत्तेः। स्थाय्यनुकरणं रसा इति यदुच्यते तत्र न मुनिवचनं न मुनिवाक्यादनुमानमेव लभ्यते, प्रत्युत धुवागानादि, नानुकरणे लिङ्गम् अपितु वस्तुतत्व एव। सामान्यानुकरणेन न विशेषानुकरणं बोद्धुं युक्तमतः सप्तद्वीपानुकरणम् इत्युक्त्यापि विशेषकान्तवेषगत्यनुकरणावबोधो न युक्तः। यच्चोच्येत भावानुकरणम् (''नाट्यं भावानुकीर्तनमिति'') रसा इति तदपि न। भावाः वर्णकस्थानीयाः। सूत्रस्थ 'संयोग' इत्यस्य संयुज्यमानत्वेन ग्रहे, वर्णकैः संयुज्यमानः यथा गौस्तथा भावैः संयुज्यमानः स्थायीति लभ्यते। तत्र संयुज्यमानस्य यदि अभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतः तदसत्। यतोहि यथा दीपैरभिव्यक्तं पारमार्थिकं वस्तु व्यज्यते न तथा सिन्दूरादिवर्णकैरभिव्यक्तं पारमार्थिकं गवादिवस्तु। केवलमत्र गोसदृशः, सिन्दूरादिसमूहविशेष एव निर्वर्त्यते। अत एव अङ्गादिसन्निवेशविशेषणावस्थिताः सिन्दूरादयो गोसदृगिति प्रतिभासस्य विषयः। किमेवं रत्यादिसदृशताप्रतिपत्तिग्राह्यः विभावादिभावः वक्तुं शक्यः। अतो न भावानुकरणं रसाः इत्युक्तम्।[२१]

तथा च प्रथमाध्याये एतदेवोक्तम्-

नन्वेवं नियतानुकारो मा भूत् अनुकारेण तु किमपराद्धम्। न किञ्चिदसम्भवादृते। अनुकार इति हि सदृशकरणम्। तत्कस्य। न तावद्रामादेः तस्याननुकार्यत्वात्। एतेन प्रमदादिविभावानामनुकरणं पराकृतम्। न चित्तवृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम्। न हि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावे वा अननुकारत्वात्। न चान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्। अनुभावाँस्तु करोति किन्तु सजातीयानेव, न तु तत्सदृशान्। साधारणरूपस्य कः केन सादृश्यार्थः। त्रैलोक्यवर्तिनः सदृशत्वन्तु

न विशेषात्मना यौगपद्येनोपपद्यते, कदाचित्क्रमेण नियत एवानुकृतः स्यात्। सामान्यात्मकत्वे कोऽनुकारार्थः। तस्मादनियतानुकारो नाट्यमित्यपि न भ्रमितव्यम्।

सांख्यमतखण्डनम्

सांख्यदृशाऽपि विभावानुभावेति सूत्रार्थो न घटते। यतोहि विभावादिजन्यस्थायीति सूत्रार्थः विभावादयश्च सुखदुःखादिजनन-शक्तियुक्ता विषयसामग्री। अस्यां सामग्र्यां मूलस्थानीयो विभावः, संस्कारकाश्चानुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तरा सुखदुःखस्वभावा इति घटते।

अत्रानुपपत्तिद्वयम्। "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः" इत्यत्र सुखदुःखस्वभावा आन्तराः स्थायिनश्चेत् पुनः रसत्वप्रापणं तेषां किमर्थम्। स्थायिनो भिन्नो रसो वाऽभिन्नः। अभिन्नापरपर्याय श्चेत्तदानीमुक्तोक्तिरसङ्गता। भिन्नश्चेत् त्यज्यतां सुखाद्यात्मसामग्री-जन्यसुखादिस्वभावो रसः इति स्वोक्तिः। यः खलु तादृशजन्यः स स्थायी, पुनश्च रसत्वाप्त्या तस्य, नैष सिद्धान्तः सूत्रे घटते। ननूपचारादभिन्नत्वमनयोरिति स्वीक्रियेत तदानीं स्पष्टमेव स्वाभाविकभिन्नत्वमिति व्यर्थः प्रामाणिको जनः परिक्षिप्यते। इत्याद्यापत्तिः।

द्वितीया च, अस्माभिः केवलं सुखात्मको रसः स्वीक्रियते भवद्भिः सुखदुःखद्यात्मक इति प्रतीतिवैषम्यस्य स्फुटत्वम्। यथोक्तम्-येन त्वभिधायि .... यदत्रोच्यताम्।

भट्टनायकमतम्

भट्टनायकस्तु - "रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते" इति। तत्र प्रतीतिर्नाम बोधः। सा च शब्दतः श्रुत्याः स्मृतेः अनुमित्या वा। आभिःस्वगतत्वेन रसप्रतीतौ करुणे सामाजिकस्य दुःखित्वसम्भवः, आत्मगतत्वे सीतादौ स्वकान्तास्मृतेरपेक्षेति स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनाद्

नात्मगतत्वम्। देवतादौ साधारणीकरणत्वस्यानौचित्यात्। समुद्र-लङ्घनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः रामस्य प्रत्यक्षत्वेनानुपलब्धत्वात्। शब्दानुमानाभ्यां रसप्रतीतौ लोकेऽपि रसप्रतीतिसम्भवः। तथा शाब्दानुमानाभ्यां तटस्थस्यैव विषयस्य प्रतीत्या अनुभवस्मृत्यादिरूपा प्रतीतिःरसस्य न युक्ता। शब्दानुमानाभ्यां प्रमाणाभ्यां नायकयुगलकरत्याद्यवभासे प्रत्युत सामाजिकानां लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्यन्तरोदयः यद्व्यग्रतयाऽरस-त्वमपि स्यात्। अतः अनुभवस्मृत्यादिरूपा प्रतीतिः नोचिता।

रसो नोत्पद्यते यतोहि शक्तिरूपत्वेन पूर्व स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तिरूपोत्पत्तौ (सांख्यदृशा) विषयसामग्रीगततारतम्यादिना रसगततारतम्याद्यापत्तिः। स्वगतत्वेन प्रतीतौ तु करुणे दुःखित्वं, परगतत्वेन प्रतीतौ ताटस्थ्यमिति स्वगतपरगतत्वेनापि पूर्ववद् विकल्प्यम्। तस्मात् -

काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधा-भिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटहारिणा विभावादिसाधारणीकरणा-त्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्-विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परंभुज्यते। यथोक्तम्—

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः।।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः।। इति।

अत्रायं सारांशः - अभिधया विभावादयः (कारणादयः) प्रतिपाद्यन्ते। अभिधोक्तविभावाः यथाश्रुतरामादिनोपस्थीयन्ते। पश्चाद् अभिधातो द्वितीयेन (लक्षणात्मकेन) भावकत्वव्यापारेण सम्बन्धविशेष-परिहारादिपूर्वकसाधारणीकरणात्मना रसाद्यनुकूला उपस्थीयन्ते। एभिः स्थायी भाव्यमानो भवति। ततः अनुभवादिप्रमाणविलक्षणेन, रज

आद्यनुवेधवैचित्र्येणद्रुतिविस्तारविकासादिना, सत्वोद्रेकप्रकाशानन्द. .... परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन भुज्यते।[२२]

भट्टलोल्लटेन अभिधयैव रामादिविभावोपस्थितिस्तेन सह स्थायिसंयोगः स्वीकृतः, अत्राभिधया केवलं विशेषविभावाद्युपस्थितिः पुनः साधारणीकरणाय अभिधाभिन्नभावकत्वव्यापार उपात्तः, साधारणीकृतेन सह स्थायिसंयोगः इति भेदः। अतः तद्दूषणस्योत्थापनं विनैवोपहतिर्दर्शिता। अतः उक्तम् "शब्देनानभ्युपगमादेव भट्टलोल्लटपूर्वपक्षो नाभ्युपगतः, तद्दूषणमनुत्थानोपहतम्" इति।

भट्टनायकमतखण्डनम्

अत्र शङ्कते - "न प्रतीयते" इत्यत्र प्रतीतिः का। प्रतीतिर्नाम भोगोऽपि भवितुं शक्नोति रसनाऽपि। प्रतिपत्तिरेव नामभेदैराख्यायते न तु प्रतीतिः। उपायभेदादेव प्रतिपत्तिः, क्वचिद्दर्शनशब्देन क्वचिदनुमितिशब्देन, क्वचिदुपमितिशब्देन क्वचित्प्रतिभानादिशब्देन व्यवहृता भवति। अतः प्रतीयते इत्युक्तिरसङ्गता। नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते इत्युक्त्या निष्पत्त्यभ्युपगमे रसस्य नित्यता, अभिव्यक्त्यनभ्युपगमे रसस्य असत्ता एव प्रतिपाद्यते, किन्तु नित्यासदतिरिक्तस्य तृतीया गतिरेव न सम्भवति। तथा च न प्रतीयते इत्यादिना अप्रतीतश्चेद्रस उच्यते तदपि न, नहि अप्रतीतं वस्तु शब्दव्यवहारे योग्यं भवति। अतः न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते इत्युक्तिर्न संघटते।

चेत् न प्रतीयते इत्यादिना भट्टलोल्लटभट्टशङ्कुकाभिमता प्रतीतिः निषिद्धा, यतो हि "तद्रूपतानुसंधानात् नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः" अथवा नटे असदपि सामाजिकैश्चर्व्यमाणो रसः इत्यत्र चर्व्यमाणस्य प्रतीयमानत्वमनुमीयमानत्वमित्यर्थ उपायाबलाद् प्राप्यते, तदर्थक प्रतीतिर्निषिद्धा, भोगीकरणरूपा प्रतीतिस्तु स्वीक्रियत एव इति। तदपि न। नवरसानां कृते- नवरसनात्मानः प्रतीतयो

भोगीकरणस्वभावा: भविष्यन्ति तथाच रजस्तमोऽनुवेधसत्वोद्रकस्य, रजस्तम:सत्वानामङ्गाङ्गिवैचित्र्येण रसनामनन्तताऽपि स्यात्। अत: अभिधाभावनाभ्यां सहानन्तभोगस्य योगेऽपि व्यापाराणां त्रित्वं न वक्तुं शक्यते।

यच्च "काव्ये भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रस:" "काव्येन भाव्यन्ते रसा:" इत्युच्यते तर्हि पृच्छामि- किं नाम भावनम्? मुख्यार्थप्रतिपादकशब्दनिष्ठाभिधावत् शब्दार्थसम्बन्धात्मकम् वा अभिधेयसम्बन्धात्मकलक्षणासरूपम् अर्थादिनिष्ठम् अथवा विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनरूपं, सामाजिकनिष्ठम्। तत्र नाद्यद्वयं भावनमिष्टं। तृतीयञ्चभावनमस्माभिरपि स्वीक्रियते।

भावनमेव संवेदनाख्यम्। भावनया भाव्यमान इत्यस्य व्यङ्ग्य इत्यर्थ:, लक्षणया गृहीत:। व्यङ्ग्यस्तु व्यज्यमानो व्यञ्जनया भवति, न भावनयेति भाव:। अनुभवेन न केवलं विषयी अनुभव:, अपितु अनुभवविषय: इत्युपचरित:। यतोहि "परसंवित्तिगोचर:" काव्यार्थ:, अनुभवो रस: इति कारिकायां निर्दिष्ट:। यथोक्तम्-

"संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचर:।
आस्वादनात्मानुभवो रस: काव्यार्थ उच्यते।। इति

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते, अनुभवेन च तद्विषय इति"।

इत्थमत्र भावकत्वव्यापारेण भाव्यमान: स्थायी एव रस:। रसस्तमोऽनुवेधविचित्रसत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयविश्रान्तिलक्षणेन भोगेन भुज्यते इत्यभिप्राय:।

इत्थं "न प्रतीयते" इति प्रतीते: सामान्यर्थकतया भोगस्यापि प्रतीत्यैव ग्रहणात् "न प्रतीयते" इत्युक्तिरसङ्गता। "नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते" इत्युक्तिभ्यां नित्यासदात्मकरसस्य प्रतीतिर्भवति, तदुभयमपि रसे नास्ति। किन्तु तदितरार्थबोधने गतिरेव नास्ति अनयोरि'ति "तृतीया गतिर्नेत्युक्तम्। प्रतीतेर्भोगार्थकत्वग्रहणे

भोगीकरण-स्वभावप्रतीतीनामानन्त्यात् रसस्यानन्त्यम्। भावनया भाव्यमानो रसः'' इत्युक्त्या साधारणीकृतकाव्यविभावादिभाव्यः स्थायी एव रसनाम्ना गृहीतुं शक्यते, अतः स्थायी एव रसः इति, संक्षेपेण विप्रतिपत्तयो मन्तव्याः। सतीषु एतासु विप्रतिपत्तिषु कथं रसतत्वमास्ताम्।

अभिनवगुप्तमतम्

किं कुर्मः - यदत्र मयोपस्थाप्यते तदपि लोको दूषयिष्यति। यतो हि संविद्विकास आम्नायसिद्धोऽस्ति संविद्विकासो नाम, प्रमाणप्रमितेषु (अधिगतेषु) अपि प्रमाणान्तरबोधसाहाय्येन नवीनतया किमपि बोधृत्वम् (आगमित्वं)। अतः संविद्विकासे सति अधिगत-वस्त्वधिकतयाबोधृत्वं चेत्, अपूर्वं किम्, नात्रविस्मयितव्यम्। यतोहि अपूर्वबोध एवं संविद्विकासः, सिद्धः। इत्थं केनचित् विदुषा लोकेन केनचिदुपायेन यत्तत्वं विवृतं तदितरस्वयंग्राह्यमहार्हहेतुना (उपायेन) पूर्वोपाय-द्वंद्वभूतेन, किं लोको न दूषयिष्यति अथवा (शतृलुट्भ्यां दूषयितापदसिद्धत्वात्) किं न दूषयिता भवति।

वस्तुतः संविद्विकासे अनायासेन (निःश्रान्ता) धीः ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्वं पश्यति तदर्थतत्वं पूर्वाचार्यैः परिकल्पितानां सोपानपरम्पराणामेव फलं भवति। यतोहि यदर्थतत्वं प्रमेयशय्यायां प्रथममवतरति तत् निरालम्बनमेव चित्रं भवति। पुनश्च सतां दर्शितोपायमवलम्ब्य तस्मिन् निरालम्बे अमूर्त्ते चित्रे सेतुबन्धपुरादि-मूर्तपदार्थप्रतिष्ठा क्रियते, विस्मयाय च न भवति। इत्थमत्रापि प्राचीन सद्दर्शितोपायमारुह्य यद्रसतत्वविवेकः, सोऽपि विस्मयास्पदम् न।

अतः उपायदर्शकानामाद्याचार्याणां सतां रसविषये यानि मतानि, तानि मया न दूषितानि अपि तु शोधितानि सम्यग्विमिर्शतानि। सन्तः मूलप्रतिष्ठाफलं पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु एव आमनन्ति। इति[२३]

तर्हि उच्यतां (मूलप्रतिष्ठाफलरूप) परिशुद्धतत्वम्। इतिचेत्

किं मया वक्तव्यम् उक्तमेव मुनिना ''काव्यार्थान् भावयन्ति'' इति। एतेन ''काव्यार्थो रस:'' सिद्ध:।

काव्यार्थ एवं विमर्शनीय:।[२४] काव्यविशेषणेन अर्थस्या–न्यार्थापेक्षया काव्यार्थस्याधिकताप्रतिपत्तिरित्येक:। काव्यार्थोऽयं नाभिधेयार्थवद्, अपि तु सकलकाव्यसारभूतसद्य:परनिर्वृति–परमप्रयोजनात्मकार्थ:। काव्य काव्यार्थयोर्या वृत्ति: यश्चोपाय: सोऽपि लौकिकस्मृत्यनुभवादिविलक्षण इति द्वितीय:। विघ्नापसारका विभावादय:, तत्र य: खलु व्यापार: सकलविघ्नविनिर्मुक्त: संवित्तिरूप:, तस्मिन् सम्भावनाविरहरूपा प्रतिपत्तावयोग्यता नाम विघ्न:। विघ्नोऽयं स्वगतपरगतत्वनियमेन, देशविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभाव इत्येक:। प्रतीत्युपाय- वैकल्यस्फुटत्वाभावोऽ–प्रधानतेति द्वितीय:, संशययोगश्च (निर्वेदादिस्थायिभावयो: प्राधान्या–प्राधान्यकृत:) इति तृतीय:।

तत्र काव्यार्थस्याधिकताप्रतिपत्ति: ''रात्रिमासत,'' ''तामग्नौ प्रादात्'' इत्यादि वाक्यार्थवद् मन्तव्या। कस्यचिदर्थिनोऽधिकारिण:, आसनप्रदानाभ्यां लब्धमनोरथस्य प्रतिपत्तिमात्रादनन्तरं प्ररोचितस्यान्यस्य कस्यापि, 'आसत' 'प्रादात्' इत्यादौ लुङादिव्याख्यातभूतकालिकत्वा-दिपरिहारपूर्वकं, आस्से, प्रददानीति च लोडादिव्याख्यातविधि-प्रेरणाद्यर्थादिषु क्रियासु सङ्क्रमणस्वभावा प्रतिपत्ति:, प्रतिभाभावना विध्युद्योगादिभाषाभिर्व्यवहृता तथैवोपात्तकालादिन्यक्कारेण -

आरोग्यं प्राप्तवान् शश्वत् स्तुत्वा देवमहर्पतिम्।
स्यादर्थावगति: पूर्वमित्यादिवचने यथा।।
ततश्चोपात्तकालादिन्यक्कारेणोपजायते।
प्रतिपत्तुर्मनस्येवं प्रतिपत्तिर्न संशय:।।
य: कोऽपि भास्करं स्तौति स सर्वोऽप्यगदो भवेत्।
तस्मादहमपि स्तौमि रोगनिर्मुक्तये रविम्।।

इत्यादिवत् काव्यात्मकादपि शब्दात् सहृदयस्याधिकास्ति प्रतिपत्ति:। एवमेव ''ग्रीवाभङ्गाभिरामं'' ''उमापि नीलालक'' ''हरस्तु

किञ्चित्परिवृत्तधैर्य'' इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्त्यनन्तरमपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा साक्षात्कारात्मिका मानसी प्रतीतिर्जायते। मृगपोतकत्रासकादेरपारमार्थिकत्वात् विशेषरूपत्वाभावाच्च भीत इत्यादिना देशकालानालिङ्गितं केवलं भयमेव तस्यां प्रतिपत्तावुपजायते। अत: भीतोऽहम् भीतोऽयमित्याद्यात्मपरगतत्वादिविघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतिपत्तिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निर्विशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयं भयानको रस उच्यते।

तथाविधे हि भये नात्मा न च परोप्यत्यन्ततिरस्कृत:, न च विशेषत उल्लिखित:। अतो न परिमित्रं साधारण्यम्, अपितु धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रह इव विततम्। अत्र या नटादिसामग्री सा, साधारणभयकम्पयो: साक्षात्कारायमाणयो: केवलं पोषिका भवति। नटादिसामग्र्यामन्योन्यप्रतिबन्धबलात् काव्यार्पितानां देशकालप्रमात्रादीनां वस्तुसतां नियमहेतूनामत्यन्तमपसरणे उक्तसाधारणीभाव: सुतरां पुष्यति। अत: एव रसपरिपोषाय सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्ति:। अनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां सर्वेषां वासनासंवादात्। यथोक्तम्[२५] -

अविघ्ना सा संवित्ति:, तया च चमत्कार:। चमत्कारस्तु भुञ्जानस्याद्भुतभोगाविष्टस्य मन:करणम्। स साक्षात्कारस्वभाव:, मानस्या अध्यवसायेन सङ्कल्पेन स्मृत्या वा येन केनाप्युपायेन केनापि स्वीक्रियेत, किन्तु स सर्वोऽपि उपाय:, लोकविलक्षण: काव्यार्थगतसंवित्तिरूप: स्वीकर्तव्य:। इत्थं काव्यकाव्यार्थयोर्य: सम्बन्ध: संवित्तिरूप:, स सर्वथा लोकविलक्षण:। यथा[२६] - रम्याणि............।

अत्र या स्मृतिर्दर्शिता सा संवित्तिरेव यतोहि स्मरतीति उपदर्शिता या स्मृति:, सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् संस्कारानाहितत्वाच्च। अपितु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयं संवित्तिरेव। इयमास्वादात्मा, अस्यां रतिरेव (साधारणीभूता) भाति।

तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या, नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या, न तदारोपादिरूपा। यथोक्तम्[२७] - सा चाविघ्ना ....।

इयमेव प्रतिभानापरपर्याया संवित्तिः, अनुकाररूपाऽपि वक्तुं शक्या, देशाद्यनियन्त्रणात्, "उपचयावस्थाप्राप्ता अनुक्रियमाणा रतिरेव रसः" इति शङ्कुकाभिमतानुसारात्। किन्तु स अनुकारः न सदृशकारः न च पश्चात्कारः। तथा च "सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्' इति भावकचेतसः सुखादिभिः वासनात् साङ्ख्यदृशा तद्विषय-सामग्रीरूपाऽपि भवतु, किन्तु करणादिभावानुगामितयेति न तु जनकतयेति। इत्थं विज्ञानवादानुसारेण भावानुगामितया विषय-सामग्रीरूपा अपि रसनीया संवित्ति र्वा भवतु। सर्वथा संवित्त्यभिन्नरसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। यथोक्तम्,[२८]

काव्यार्थो रसइत्यत्र यथा शास्त्रेऽपदार्थोऽपि संसर्गादिः, पदार्थन्वयैकवाक्यार्थत्वे पदार्थावस्थायामात्तलयोऽपि (विलीनोऽपि) दृश्यते तथैव विभावादिभिः पदार्थैः संसृष्टस्य, पदार्थत्वेनादृष्टस्यापि स्थायिनः वाक्यार्थत्वे रसावस्थायामन्वयः। यतोहि वाक्यार्थो रसः इत्युक्तम्। यथोक्तम् -

संसर्गादिर्यथा शास्त्रे एकत्वात्तलयो गतः।
वाक्यार्थस्तद्वदेवात्र शृङ्गारादिः रसो मतः।। इति[२९]

काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वाद-व्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रकृतिविषययोः प्रयोजनान्तरा-नुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्थायिन एवावगमम्यते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत् काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

पदार्थवाक्यार्थौ रसेष्वेव पर्यवस्येत इत्यसाधारण्यात् प्राधान्याच्च काव्यास्यार्थाः रसाः। अर्थ्यन्ते प्राधान्येनेति अर्थाः, नत्वत्रार्थ-

शब्दोऽभिधेयवाची स्वशब्दानभिधेयत्वमेव रसादीनां दर्शितम्। पूर्वंहि स्थाय्यादिकमवगच्छति ततः सर्वसाधारणतया आस्वादयति तेन पूर्वागमगोचरीभूतः सन् स्थाय्यादिः, उत्तरभूमिकाभागिन आस्वाद्यस्य रसस्य भावकः निष्पादक उच्यते। तस्मात् काव्यार्थो रसः इति।

विघ्नेषु चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादि-शब्दैरभिधीयमानायां सकलविघ्नविनिर्मुक्तायां संवित्तौ, प्रतिपत्त्य-योग्यतारूपः, संभावनाविरहः प्रथमो विघ्नः, स्वपरगतत्वेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः इति पूर्वमुद्दिष्टः।

अत्र प्रत्तिपत्तावयोग्यतया संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्ये संवेद्यत्वं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। विघ्नापसारणे हृदयसंवादः लोकसामान्यवस्तुविषयोऽपेक्ष्यते।

''रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्'' इति निःसामान्यो-त्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजनसिद्धये नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेनोपादीयते, यतः अलोकसामान्येषु चेष्टितेषु अखण्डितप्रसिद्धि-जनितगाढारूढप्रत्ययकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः। इति वस्तुविसंवादः।

स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगम-भीरुतया तत्परिरक्षाव्यग्रतया तत्सदृशार्जिजीषया (तत्सदृशमर्जुयितु-मिच्छया) तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया, वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा, संवेदनान्तरसमुद्गमः सम्भाव्यते, यस्तु परमो विघ्नः। परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमसंभावनयाऽवश्यंभावी विघ्नः। इति स्वपरगतत्वनियमरूपो विघ्नहेतुर्दर्शितः।

तदपसारणे लोकसामान्यवस्तुविषयः हृदयसंवादः। स च ''कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र पूर्वरङ्गविधिं प्रति'' इति पूर्वरङ्गनिगूहनेन 'नटीविदूषको वापी''ति'' लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन, च यो नटरूपताधिगमः तत्पुरःसरप्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽ-भ्युपायः। अलौकिकभाषादिभेदलास्याङ्गरङ्गपीठमण्डपगतकक्ष्यादि-

परिग्रहनाट्यधर्मित्वेन ''तस्यैवात्रैवैतस्यैव च सुखं वा'' इति न भवति, स्वपरगतत्वेन प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्। लास्याङ्रङ्ग– पीठादिस्वरूपे रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन विश्रान्त्यभावात्। (रङ्गपीठादौ) सत्ये (रूपान्तरारोपितत्वेन) तदीयरूप-निह्नवमात्र एव पर्यवसानात्। अत: आसीनपाठ्यपुष्पगण्डिकादेरपि कथञ्चिद् लोके सम्भाव्यमानत्वात् लोकसामान्यवस्तुविषयत्वं न हीयते इति सर्वोऽपि मुनिना साधारणीभावसिद्ध्यै रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्ध: समाश्रित इति। तथाहि निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठै: साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभि: शब्दादिविषयमयीभि-रातोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम्, येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। तत: स एष स्वपरनियततताविघ्नापसारणप्रकार:, अथवा स्वपरगतत्वेन देशकाल-विशेषावेशात्मनिजसुखादिविवशीभावरूपविघ्नापसारणप्रकार: व्याख्यात:।

अयमेवात्रसंक्षेप: मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानाऽपि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्याग:। रोमाञ्चादयो भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तत्रापि देशकालनियमेन रतिं गमयन्ति यस्यां स्वात्माऽपि तद्वासनावत्त्वादनुप्रविष्ट:। अतएव न तटस्थतया रत्यवगम:। न च नियतकारणतया येनार्जनाभिषङ्गादिसंभावना। न च नियतपरात्मैकगततया, येन दु:खद्वेषाद्युदय:। तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव संविदो गोचरभूता रति: शृङ्गार:।

द्वितीयश्च विघ्न: प्रतीत्युपायवैकल्यस्फुटत्वाभावोऽप्रधानतारूप: य: स्वीकृत: तस्याप्यपसरणोपायो निरूप्यते।

तत्र रसस्य स्फुटा प्रतीति: प्रत्यक्षोचितप्रतीतिसाध्या भवति शब्दलिङ्गसम्भवादस्फुटेति कथं नाटकादौ स्फुटा प्रतीति:, रसस्य इत्येक:। रसस्य शब्दलिङ्गसम्भवात्स्फुटत्वाभावे स्फुटप्रतीतिकस्या-

न्यस्यापेक्षयाऽप्रधानत्वमपि इति द्वितीय:।

तत्राद्यविकल्प उच्यते किञ्च स्फुटप्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीति:। अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति। प्रतीतिविश्रामस्य स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्। यथा - न्यायसूत्रे 'सर्वा चेयं प्रमिति: प्रत्यक्षपरा'। प्रत्यक्षोचितप्रत्ययेन स्वसाक्षात्कृते प्रत्यक्षेतरागमानुमानशतैरप्यनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता, तत्प्रमित्यपसरणादिति, लौकिकस्तावदयं क्रम:।

तस्मात् अस्फुटप्रतीत्यप्रधानात्मरूपोभयविघ्नविघाते, अभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्युपस्कृता (वागाद्यनन्तरं) समभिषिच्यन्ते। अभिनयनं तु न शब्दलिङ्गव्यापारमात्रम् अपितु शब्दलिङ्गव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्याम:। अर्थात् वाग् वागभिनयश्च नैकतत्वं, वाच: श्रावणप्रत्यक्षमात्रम् वागभिनयस्य च श्रावण-प्रत्यक्षसहकृतनेत्रप्रत्यक्षत्वात् प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति उक्तम्। अत: रसप्रतीति: प्रत्यक्षपरैवेति। वागभिनयेषु वाचोऽप्रधानत्वम् अभिनयस्य च प्रधानत्वात् अप्रधाने वस्तुनि कस्य संवद्विश्राम्यति। तस्यैव (अप्रधानस्य) प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावत: स्वात्मन्यविश्रान्तत्वाद् अप्रधानत्वम्।

अतो जड़े विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि (यथासूत्रं विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्) नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि तदतिरिक्त: स्थायी एवं तथा चर्वणापात्रं संभवति। इति।

धर्मार्थादिपुरुषार्थनिष्ठा अपि रतिक्रोधोत्साहनिर्वेदरूपा: काश्चित्संविद: प्रधाना। न तु धर्मादीनाम् प्रधानता। धर्मादिष्वपि तत्तद्रुपके प्रधानाप्रधानतया व्यवस्थितिर्भवति। न केवलं धर्मादिष्वेव अपि तु सुखप्रधानेष्वेषु शृङ्गारादिरसेष्वपि उपरञ्जकबलात् प्रधाना-प्रधानत्वम् दृश्यते। तदेव विशकलयति -

तत्र नाटकादौ पुरुषार्थनिष्ठा: काश्चित्संविद: प्रधानम्। तद्यथा-स्थायी, रति: (काम:) तदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। निष्ठोक्त्यैव धर्मार्थयो-

रुद्देश्यत्वं रतेः प्रधानत्वम्। एवमेव क्रोधः तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः। कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादि-पर्यवसितः। तत्वज्ञान-जनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति। अथ मोक्षस्य प्राधान्यम्। न तु एतदपेक्षया कस्यचिद् रससंविदः प्राधान्यं निर्दिष्टम्। अतः "नाट्ये अष्टावेव रसाः" इति संगच्छते नाट्यस्य रसप्राणत्वात्। यद्यपि चैषामपि पुरुषार्थानां तत्संविदाञ्च अन्योन्यं गुणभावोऽस्ति तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्रधान्यमेषां लक्ष्यते। अदूरभागाभिनिविष्टदृशः (अदूरदर्शिनः) (केचन) एकस्मिन्नपि रूपके पृथक्-पृथक् (अनेकेषां) प्राधान्यं मन्वते।

तत्र नाट्ये सर्वेऽमी रसा सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वण-रूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। लोके तु न तथा अविश्रान्तिरूपत्वात्। लोके एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि स्त्रीलोकस्य हृदयाविश्रान्तिः अन्तरायाशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात्। अविश्रान्ति-रूपतयैव दुःखम्। अतएव कापिलैर्दुखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिः। सर्वरसानां तु आनन्दरूपतैव। किन्तूपरञ्जकविषयवशाद् एषामपि, वीराद्यपेक्षया रत्यादेः रत्याद्यपेक्षया हासादेः सातिशयत्वं दृश्यते। अतएव एतद्गुण-प्रधानभावकृत एव दशरूपकादिभेदः स्वीक्रियते। यथोक्तम्-

किन्तूपरञ्जकविषयवशाात् तेषामपि कट्ु किं नास्ति। स्पर्शो वीरस्य क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्। हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरञ्जकत्वम् इति प्रधानम्। अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति शोचति बिभेति परनिन्दामाद्रियते। अल्पसुभाषितत्वेन च सर्वत्र विस्मयते रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। (स्वातन्त्र्येण हासादेः न पुमर्थोपयोगित्वम्।) एतद्गुणप्रधानभावकृत एव च दशरूपकादिभेद इति वक्ष्यामः।। इति प्रतीत्युपायवैकल्यस्फुटत्वाभावरूपोऽप्रधानत्व-विघ्नापसरणोपायःव्याख्यातः।

तृतीयश्च विघ्नः संशययोगः। स च व्यभिचारिस्थायिनोः संविदात्मनोः प्राधान्याप्राधान्यकृतः तथा च विभावादीनामनैकान्तिकत्वे भिन्नस्थायियोगायोगात्मकश्च दर्शितः। संशयनिरासाय, तत्र व्यभिचार्यपेक्षया स्थायिनः प्राधान्ये, तस्य जन्मतः समुद्भवः, संस्कारशेषतया सर्वदा वर्तनं, सूत्रवत् स्फटिकस्थानीय-व्यभिचार्याश्रयत्वं, वासनात्मतया विभावादिकं हेतुं विनाऽपि सत्वात्मकत्वं दर्शितम्। विभावादीनां भिन्नस्थायियोगाभावश्च दर्शितः। यथोक्तानुसारेण –

स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव च जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथाहि "दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः" इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः, स्वात्मन्युत्कर्षमानितया परमुपहसन् अभीष्टवियोगसन्तप्तः, तद्हेतुषु कोपपरवशः, अशक्तौ च ततो भीरुः, किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मक-तयाऽऽक्रान्तः, किञ्चिदनभीष्टतयामन्यमानः तत्तत्स्वकर्तव्यदर्शन-समुदितविस्मयः, किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते। (इत्थं क्रमेण-रति-हास-शोक-क्रोध-भय-उत्साह-जुगुप्सा-विस्मय-शमादि-चित्तवृत्तियुक्तो जन्तुर्जायते) न ह्येतत्चित्तवृत्ति- वासनाशून्यः (कश्चन) प्राणी भवति। केवलं कस्यचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या। एतत्चित्तवृत्तिविभागकृतश्चोत्तम-प्रकृत्यादिव्यवहारः।

व्यभिचारिणस्तु ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषाः समुचितविभावाभावाद् जन्ममध्येऽपि न भवन्ति (किमुत जन्मतः विभावादिकं विना)। तथाहि – रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्या-लस्यादिप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भवन्ति विभावबलात् तस्यापि विभावादिहेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति। रत्युत्साहादयः संपादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते। यतो हि कर्तव्यान्तरसम्पादनविषयस्योत्साहादेरखण्डनात्।

यथाह पतञ्जलि- नहि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्त इति। एतेन विभावादिनिरपेक्षस्य स्थायिनो जन्मन: सत्ता दर्शिता।

तस्मात्स्थायिरूपचित्तवृत्तिस्यूता एवामी व्यभिचारिण: स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्तनीलादिसूत्रस्यूत-विरलभावोपलम्भनसंभावितभङ्गीसहस्रगर्भ-स्फटिककाचपद्मराग-मरकतमहानीलादिमणिगोलकवत् तस्मिन् (स्थायि) सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसंदर्भ विभ्रत: स्वयं च विचित्रार्थस्थायिसूत्रं विचित्रयन्तोऽन्तरा अन्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपयन्त: पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छाया शबलिमानमवश्यमानयन्त: प्रतिभासन्ते।

तस्मादितिसन्दर्भेण व्यभिचारिणां स्थाय्याश्रयत्वम् उदयास्तमन-धर्मत्वं, स्थाय्युपकृतत्वं विचित्रार्थपोषणेन स्थायिप्रतिभासायोपकर्तृत्वं स्वच्छायया स्थायिशबलयितृत्वं च दर्शितम्।

विभावादिकं हेतुं विनाऽपि स्थायिन: स्थितत्वं व्यभिचारिणाञ्च विभावादिसापेक्षत्वं दर्शयन् तृतीयघट्टकेनोभयो: प्राधान्याप्राधान्य-विवेकं प्रस्तुवन्नाह गुप्तपाद: - तथा हि- ग्लानोऽयमिति केनचिदुक्ते, श्रोता पृच्छति तं, कुत: इति। प्रश्नेनानेन ग्लानिहेतुभूत: स्थायी सूच्यते। किन्तु राम उत्साहवानिति केनचिदुक्ते न तत्र हेतुप्रश्नो भवति। उत्साहादेर्जन्मत: स्थिरत्वात्। विभावादयस्तु न स्थायिहेतव: अपितु उद्बोधका: सन्त: स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रम् आवहन्ति। विभावाद्यभावे सर्वथा ते स्थायिनो निरुपाख्या न भवन्ति वासनात्मना सर्वजन्तूनां रत्यादिमयत्वेनोक्तत्वात्। किन्तु व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे जन्मापि नास्ति, इत्यपि स्थायिव्यभिचारिणोर्भेद:। एवं व्यभिचारिणां स्वभावतोऽप्राधान्यं स्थायिनश्च प्राधान्यमायातम्। शब्दतोऽपि स्थायिनिरूपणायां स्थायिनामप्रधानत्वनिरास: 'स्थायिभावान् रसत्वम्'' इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृत:।

इत्थं प्राधान्याप्राधान्यकृतं प्रथमं संशययोगं निरस्य, विभावादीनामनैकान्तिकत्वे भिन्नस्थायियोगायोगात्मकं संशयोगं निरस्यति। यथा -

अनुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति (अपितु एकस्मिन्नेवस्थायिनि)। यद्यपि वाष्पाद्यनुभाव आनन्दादेरपि अक्षिरोगादिजादपि, व्याघ्रादिर्विभावः क्रोधस्य भयादेरपि श्रमचिन्तादिव्यभिचारिण उत्साहादपि भयादेरपि। तथाहि बन्धुविनाशो यत्र विभावः, परिदेविताश्रुपातादिरनुभावः चिन्तादैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एव नान्यो भयादिरिति नियतबोधेन शङ्कात्मकविघ्नशमनाय विभावादिसूत्रे संयोगपदमुपात्तम्। संयोगपदस्य सामाजिकधियि विभावादेः नियतस्थायिना सह सम्यग्योगः सम्बन्धः नियतैकाग्र्यासादक इति अर्थो बोद्धव्यः। इत्थं द्वितीयोऽपि संशययोगः निरस्तः।[३०]

इत्थं प्राधान्याप्राधान्यकृतसन्देहनिरासाय, "स्थायिभावान् रसत्वम्" इत्यादिना, स्थायिनोऽप्रधानत्वनिरासः दर्शितः[३१]

यत्तु विभावादयः स्थायिनो न हेतवः, अपितु तदुद्बोधकाः, रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति इत्युक्तं तस्योदाहरणं शङ्कुकमतम् निर्दिष्टम् - यथाऽऽह

यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधीयीत, "स्थाय्येव विभावादि-प्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते" इति।

एवं हि लौकिकोऽपि रत्यादिः कि न रसः, असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात् तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति, इति संशयनिरासाय "स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा रसः न तु प्राच्या (लौकिकविभावादे र्जन्या) इत्युक्तम्। तत्पोषायैवाग्रेऽपि अतः एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतं, तत्प्रत्युतशल्यभूतं स्यात्। स्थायिन उपादाने, विभावादिना तस्यानुमितिर्न संघटेत अतः शल्यभूतत्वमिति। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति। औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया (अनुमानोपयोगतियात्यर्थः)

विभावादित्वावलम्बनम् अतः एव वासनया चर्व्यमाणो रसः इति (मम्मटोक्तौ) चर्व्यमाणस्यानुमीयमानत्वं घटते। एतेन स्पष्टं भवति यद् औचित्येनोद्बोधकत्वमेव विभावादे र्न हेतुत्वम्। इति।

तथाहि लौकिकचित्तवृत्यनुमाने का रसता, तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकसंवेदनविलक्षण एव। इति शङ्कुकः।[३२]

इत्थं ''काव्यार्थो रसः'' इत्युक्तौ अर्थस्य रसमात्रबोधकत्वम्, तदर्थबोधाय या वृत्तिः सा संवित्तिः चर्वणा वा। चर्वणेयं प्राङ्मानान्तराभावात् न स्मृतिः, न लौकिकप्रत्यक्षादिः, नानुमितिः, नाच युञ्जानयुक्तयोगिसंवित्तिज्ञानं, न ताटस्थ्यप्रतीतिः, विषयावेशवैवश्यप्रतीत्यभावात् न स्वात्मगतप्रतीतिः, इति सकलविघ्नशून्या प्रतीतिः चर्वणा संवित्तिर्वा दर्शिता। संवित्तिश्चर्वणा वेयं रसनेति। विभावादेः संयोगात् रसनाया एव निष्पत्तिर्भवति न रसस्य, विभावाद्यबोधे विभावाद्यपगमेऽपि ''रसस्यनिष्पत्यवस्थायां'' रससम्भवप्रसङ्गात्। सिद्धस्य कस्यचिद्ररसस्याभावाद् ज्ञप्ति-उत्पतिहेतुत्वेन विभावादेरग्रहः एव। विभावादिव्यवहारस्तु अलौकिकचर्वणोपयोगित्वेन स्वीकर्तव्यः।

एतेन रसो न प्रमेयस्वभावः। निष्पत्युक्त्या रसस्य रसनेति अर्थ कार्यः। तदेकायत्तजीवितस्य रसस्याविनाभावसम्बन्धेन निष्पत्तावपि न दोषः। तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थः ''काव्यार्थः रस इति सूत्रस्य, विभावानुभावादेस्तात्पर्यम्।[३३]

लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिः, न ताटस्थ्येन प्रतीयते अपितु तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। तत्र रसास्वादाय, चर्वणां निष्पादयितुमुपायभूताङ्कुरस्थानीयं भावनानुमानस्मृत्यादिकं लौकिकप्रमाणमप्यभ्युपगन्तव्यम्, किन्तु नैतेषां रसास्वादाय योग्यता। न च चर्वणा प्रागनुभवजन्यसंस्काराविनाभूतप्राङ्मानान्तराद् भवति येन स्मृतिः स्यात् न च लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारश्चर्वणा। यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदया भावात्, न तु योगिप्रत्यक्ष-

जनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्मा, ताटस्थ्यादिविघ्नान्तरोदयाभावात्। न तु सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैक-घनानुभवात्मा, अस्फुटत्वविषयावेशवैवश्यकृतसौन्दर्यविरहरूप-विघ्नोदयाभावात्। (अर्थात् घनानन्दानुभवे विषयशून्यतया, विषयावेशवैवश्यकृतसौन्दर्यविरहो भवति अत्र तु विभावादि-विषयसौन्दर्यसत्वमिति)। अत्र स्वात्मगतत्वेन, परगतत्वेन च कस्यचिद्। नियमस्यासम्भवाद् नियमानध्यवसायात् तद् विभावादिसाधा-रण्यवशसंप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशाच्च न विघ्नान्तरसम्भवः। साधारणीभावना न भावकत्वव्यापारेणापितु विभावादिगतभावनयैवेति बोध्यम्।

ननु सर्वप्रमाणाप्रमितत्वात् रसोऽप्रमेयः किम् ? अस्तु का हानिः, रस्यतैकप्राणोऽसौ न प्रमेयस्वभावः। सूत्रे रसनिष्पत्तिः इत्यस्य रसनाया निष्पत्तिरित्यर्थः ग्राह्यः, रसनैकायत्तत्वात् अविनाभावाद् वा रसस्यापि निष्पत्तिरुपचारत उच्यताम्। इत्थं स्वसंवेदनसिद्धत्वात् प्रमाणकारकाभ्यां विलक्षणत्वेऽपि रसनाया नाप्रामाणिकत्वम्। अपितु विभावाद्युपायादिवैलक्षण्याद् लौकिकबोधान्तरेभ्यो विलक्षणेयं बोधरूपैव रसना, एतद्गोचरो लोकोत्तरोर्थः रसः इति सूत्रार्थः। गोचरत्वेऽपि न विषयत्वं रसस्य रस्यतैकप्राणत्वात् इति ।

विभावमात्रस्योपादानेऽपि अनुभावादेर्गुणतया प्रत्ययात् तथा च अनुभावादेरुपादाने विभावादेर्गुणतया प्रत्ययाच्च विभावादिगत-विभावनादिसाधारणीकरणव्यापारेण साधरणीभूता रतिः एकस्या एवं संतानवृत्तेः संविदो गोचरभूता शृङ्गारो भवति।

विभावमात्रस्योपादानम् यथा - केलीकन्दलितस्य ....।

अत्र विभ्रममधोर्धुर्यवपुः, दृशोर्भङ्गी, कामकार्मुकम् वक्त्राम्बु-जन्मासवः सुन्दरि, इत्यादि पदानि विभावमात्रम्। केली-विभ्रम-भङ्गुर, नर्मवच आदि अनुभाववर्गस्तद्विशेषणतयोपादानात् तस्मिन् विभावे गुणीभूतस्तथा च व्यक्त औत्सुक्त्यादिरपि व्यभिचारिभावोऽपि। एतेन विभावगतविभावनव्यापारेण साधारणतया सर्वेषामुपस्थितिः।

अनुभावनव्यापारेणानुभावगतेनापि- यद् विश्रम्य विलोकितेषु..

अत्र विश्रम्य, निःस्थेमनी लोचने- गात्राणि दरिद्रति- दूर्वा-काण्डादिपदैः क्रमेण स्तम्भविलोकनवैचित्र्यगात्रतनुतातारतम्य-वैवर्ण्यप्रभृतिअनुभावाः प्रधानम्। विश्रम्य, बहुशः, प्रतिदिनमितिपदैः, स्तम्भऔत्सुक्यदैन्यादिव्यभिचारिभावश्चापि अनुभावगुणतया व्यज्यते। विभावश्च कृष्णादिः सधारणीकृतः। अतो अनुभावस्यापि अनुभवनादिव्यापारेण साधारणीकरणत्वम्।

व्यभिचारिप्राधान्येऽपि- आत्त आत्तमधिकान्त - बुद्धा जलमुञ्जिहों. .... अत्र प्रियमीक्षितुमुपात्तेऽञ्जलिस्थजले स्वलोचनप्रतिबिम्बं शफरीं बोधितवत्याः प्रमदाया वितर्कत्रासशङ्कादिर्व्यभिचारिभावः सुकुमार-प्रमदाजनभूषणभूतः प्रधानम्। विभावप्रमदायाः सौन्दर्यातिशयाद् विभावस्यापि साधारणतयोपस्थितिः। आत्तधीरलोचनादिभिरनुभावस्य गुणतयोपस्थितिः। यथोक्तम्

साधारणीभावना .... तदनुयायी।[३४]

इत्थं काव्योपात्तविभावादेरेकस्यापि सत्तायामन्यतमद्वयस्य गुणतया सत्ता दर्शिता। तथा च सर्वेषां विभावनादिव्यापारेण साधारणीभावश्च दर्शितः। वस्तुतः श्रव्यकाव्यस्य शब्दात्मकत्वादेकस्याप्युपादानेऽ-वशिष्टयोरुपादानमर्थबलादत्र सहृदयैर्मन्यते, किन्तु नाटकादिषु दृश्येषु एकस्यापि शब्दतः उपादानेऽपि अवशिष्टयोर्द्वयोरभिनयबलात् प्रत्यक्षीकरणं साक्षात् भवत्येवेति सर्वेषां समानतया प्राधान्यम्। यथोक्तम्- 'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः'।

'तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्' इति वामनेनोक्तम्।

काव्यनाट्यदृश्ययोः समानास्वाददायिनोः काव्याभ्यासप्राक्तन-पुण्यादिसंस्कारात्मनः सहृदयस्य काव्याधिकारित्वेन, स्फुरितशशि-रश्मिवदनायासेन चित्तनिर्मलीकरणाधायकस्य नाट्यस्याहृदयानामपि काव्याभ्यासाद्यनाहिततादृशदृढसंस्काराणामपि अधिकारित्वं दर्शितम्।

प्रबन्धे नाट्यवद्रसचर्वणायै भाषावेषप्रवृत्यौचित्यादिकल्पनम् तादृशमेवेतदुपजीवने मुक्तकेऽपि। अतएव सहृदया वक्तृश्रोतृ-

पौर्वापर्यादिपीठबन्धं पूर्वं विदधते, तथा च दृढाभ्यासजन्यप्राक्तन-संस्कारवशात् परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि काव्यार्थं स्फुटं साक्षात्कुर्वन्ति। तेषां तु अनपेक्षितनाट्यमपि काव्यं प्रीतिव्युत्पत्तिकारि भवति। अहृदयानां च "निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः" इति न्यायेन नाट्यं, चित्तनिर्मलीकरणत्वेन नितरां नैर्मल्याधायि। अत्र गीताद्या गणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति। नटस्तु, सिन्दूरादिमयो वासुदेव इव सिन्दूराद्युपायद्वारेणातिस्फुटीभूत-सङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो वासुदेवो यथा ध्यायिनां ध्यानपदं फलकृच्च भवति तथैव नटप्रक्रियाद्वारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयीकृतो नियतदेशकालाद्यस्पृष्टो व्युत्पत्तिं वितरति। दृश्यादन्यत्र काव्यस्थले वक्तृश्रोतृशब्दसंकेतव्यापारादिनियमादिकृतविलम्बात्मबाधकादिसम्भवः, दृश्ये तु चित्तवृत्यादौ न तादृशबाधकोदयः, अतः सम्यग्ज्ञानभूतं ह्येवेदं नाट्यं पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीतिर्न तु अयं रामोऽन्यो वेति।[३५]

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति रितिसूत्रेण लोकोत्तरोऽयं रसरूपार्थो न हृदयङ्गमो भविष्यतीति दृष्टान्तमुपन्यस्यति- 'कोदृष्टान्तः' इति। बहूनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमान क्व दृष्ट इति को दृष्टान्तस्यार्थः।[३६]

प्रश्नस्यास्य प्रतिवचनं विभावादिसूत्रोपरि विहितेनानेन भाष्येण दीयते -

यथाहि नानाद्रव्य .... स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।।

यथा, नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद् - व्यञ्जनमुपसेचनद्रव्यं जलादिकम्, मधुरचुक्रादिभेदादधिकाञ्जिकादि वा। (काञ्जिकं तक्रम्)। ओषधयः - चिञ्चागोधूमदलहरिद्रादयः, द्रव्यं-गुडादि, इति नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्याणि, एषां संयोगात्- पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात् कुशलसम्पाद्यत्वाद् वा रसनिष्पत्तिः- रसः- षाडवादिः +, सम्मिश्र्य मधुरादिषड्गुणैर्निष्पन्नः षाडवः, परस्पर-विविक्तेभ्यः प्रसिद्धेभ्यो मधुरादिभ्यो विलक्षणः, तस्य विलक्षण-

रसस्य निष्पत्तिर्बहुतररसनयोग्यताप्तिः, तथा- नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः - नानाभावैर्विभावादिभिर् उपगमात- उप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गमाद्रसनिष्पतिः। एतदेव विवृण्वते गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसाः निवर्त्यन्ते— तत्प्रधाना बहुतरा रसनयोग्याः क्रियन्ते, तथैव नानाभावैर्विभावादिभिर् उप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकानपेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीविनो रसत्वं आप्नुवन्ति-प्रतिपद्यन्ते।

अस्यायमभिप्रायः - पाकरूपया सम्यग्योजनया (संयोगात्) तावद् लौकिको रसो जायते, तत्र च प्रधानत्वेन विभावस्थानीयं व्यञ्जनं रसाभिव्यञ्जकजलं, अनुभावस्थानीयं चिञ्चाहरिद्रादिः, व्यभिचारिस्थानीयं, द्रव्यगुडादिः, चुक्रादिरसविचित्रितमधुरादियोगाद् व्यभिचारी स्वात्मनि स्थाय्युपजीवनेन विभावादौ स्वरससङ्क्रमणया वैचित्र्याधायको भवति। (तथैवविलक्षणमधुरादिरपि।) अत्र तु स्थायिकल्पः तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावस्थानीयव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः। षाडवो हि लौकिकः, अयं विभावादिजन्यस्तु कुशलैकनिर्वर्त्यः तद्विदां रसनीयो भवति। यथा विभावादिसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तम् तथैव व्यञ्जनात्मदृष्टान्तेऽपि अदनीयस्योपादानं न कृतम्, त्रयमेवोपात्तम्। इति सूत्रस्य भाष्यम्। सूत्रं व्याख्याय लक्षणपदपरीक्षितुमाक्षिपति -

रस इति कः पदार्थः, उच्यते - आस्वाद्यत्वात्।[३७]

रस इति कः इत्यादिना "मधुरादौ, पारदे विषये सारे निर्यासे, इत्यादिनवार्थेषु रसः प्रसिद्धः न त्वन्यत्र। शृङ्गारादिषु प्रवर्तितस्य रसपदस्य कोऽर्थः। किं, प्रवृत्तिनिमित्तम् स्वाभिधेयनियमाय शब्देन कथ्यते, अथवा तत्प्रयोक्तृप्रतिपत्तृभिः। (रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वं वा सर्वथा सहृदयैः विभावाद्यभिव्यङ्ग्यत्वमितिभावः) अर्थः प्रवृत्तिनिमित्तम्। कः पदार्थः ? इति रसपदस्य प्रवृत्तिहेतुः कः इति प्रश्नः, तस्य प्रवृत्तिहेतोः प्रश्नस्योत्तरं "आस्वाद्यत्वात्" इति पञ्चमीहेतुविभक्त्यैव दत्तम्। तेन हेतुः क्रिया वा प्रतृत्तिनिमित्तमस्य इति

(रसपदस्यार्थ:) उक्तं भवति।

कश्चन 'रस:'' इति' क: ? - पदार्थ: उच्यते, इति भङ्क्त्वा व्याचष्टे ''रस: इति क:, पदार्थ:, ''उच्यते'' इति। अस्यायमभिप्राय: इतिनाव्यवच्छिन्नस्य रसपदस्य अनुकरणात्मकरसशब्दमात्रमुच्यते अत: रस: क:, किं शब्द:? तत्रोत्तरं दीयते, नहि पदार्थ: उच्यते, इत्युत्तरम् तदनन्तरं। पदार्थत्वे हेतुर्दीयते ''आस्वाद्यत्वात्'' इति। तत्र केवलमास्वाद्यत्वात्'' इति वचनं नोचितम् अपितु तस्यास्वाद्यत्वात्'' इति वक्तव्यं स्यात्, तत्पदानुक्तौ तस्याध्याहारं विना प्रकृतपदार्थवाचकोऽयं शब्द: आस्वाद्यत्वात् इति न स्यात् अत: अत्रोत्तरम् प्रश्नमन्तरेण च ''आस्वाद्यत्वात्'' इत्यल्पपदप्रायम्, इत्यास्तामेतद् व्याख्यानम्।

अथ प्रवृत्तिनिमित्तं व्याक्षिपति कथमास्वाद्यते रस इति। आस्वादनं हि रसनेन्द्रियज्ञानजन्यं प्रसिद्धम् अत्र शृङ्गारादौ कथं घटते। उपचारादीत्युच्यते। उपचारश्च सादृश्यमात्रं यथातथापदप्रतिपाद्यम्। अथोपचरितक्रियाश्रयेणोत्तरमाह यथाहि नानेति। सादृश्यन्तु-नानाव्यञ्जनसस्कृतमन्नमित्यत्र यथा भोग्यं, भोक्ता फलम्। व्यञ्जनसंस्कृतेऽन्ने भोग्यता, आस्वाद्यता वा, एकाग्रमनसि भुञ्जाने आस्वादयितृता, तथा प्रहर्ष-आप्याय-जीवन-पुष्टि-बलारोग्याणां चास्वादफलता, अस्ति तथैव नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् ...... इत्यत्रापि, स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता, एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभवनास्वादयितृता, हर्षप्रधानानां धर्मादिव्युत्पत्तिवैदग्ध्यादी-नामास्वादफलता, इति कर्म-कर्तृफलसादृश्याद् उपचारतो विभावादिज: प्रतीतिविशेषो रसनक्रिया इति व्यपदिष्ट:। इति तात्पर्यमुपचार-क्रियाश्रयेणोत्तरमाह इत्यस्य। येन सुमनसो भुञ्जाना, हर्षादींश्च यान्ति तेन रसानास्वादयन्ति इतिशब्देन।

''(तस्मान्नाट्यरसा) इत्यभिव्याख्याता:'' इत्यस्यार्थस्तु अभित:-सर्वत्र विशेषेण अन्यभोक्तृविलक्षणतया, आ-समन्तात् ख्याता:-प्रसिद्धा: इति अभिव्याख्याता:। यथा चैते सुमनस:, तथा प्रेक्षका

अपि, तेन तेऽपि स्थायिनः आस्वादयन्ति इति आभिमुख्येन सादृश्ये व्याख्याता- अस्माभिर्व्यवहृताः। इति अत्रोपसंहारः तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः इति।

अर्थात् उपमानपक्षे अभि + आ + ख्याता, तथा चोपमेयपक्षे अभि + आख्याता व्याख्याता इति विग्रहः कृतः।

'हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति' इत्यत्र आदिपदेन शोकादीनामत्र संग्रहः। हर्षशोकादीनिति। स च न युक्तः। सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं, न शोकादिफलम्। शोकादिफलत्वे निमित्ताभावात्, शोकादिपरिहारप्रसङ्गाच्चेति मन्यमाना "हर्षादीन्" इत्यस्य स्थाने 'हर्षाश्'चाधिगच्छन्ति इति पठन्ति।

एवं यथा हि नाना .... तथा नानाभावा ......। इति यथातथा प्रतिपादितसादृश्योपचारोपायकग्रंथयोजनायां स्पष्टायां यत् कैश्चिदत्रोदितम्, दृष्टान्ते आत्मा रसना मनश्चेति त्रयम् दार्ष्टान्तिके प्रकृते तु रसनैवेति तत्परिहृतम्। आत्मन एवात्र स्थानान्तरसङ्क्रान्तस्य मनः स्थानीयता मनसश्च रसनास्थानीयतेति तन्न एतत् व्यर्थम् केवलं नाट्यमात्रं न भूतार्थम्। आत्ममनो-रसनानां भिन्नत्वेन शास्त्रप्रसिद्धानां यत् आत्मनः सङ्क्रमणक्रियया उपमानेऽपि रसनैव शिष्यते तत्र पूर्वजोपात्ता काचिद्युक्तिर्नास्ति सादृश्योपचारस्तु सिद्धः। अतः उपचारबीजस्य सादृश्यास्यात्र प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितत्वात् ग्रन्थयोजना स्पष्टेति आस्ताम् तावत्।

एवं 'रसत्वं केन वै तेषाम् (६/२) इति यत् प्रश्नितं तत्समाहितम्।

अत्रानुवंश्यौ - अनुवंशे भवौ, शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकौ वृत्तविशेषौ, सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ च श्लोकौ भवतः। तौ पठति

यथा – बहुद्रव्ययुतै ....।

बहूनि मधुरादिभेदात् द्रव्याणि गुडादीनि तैः युतैः बहुद्रव्ययुतै व्यञ्जनैः दधिकाञ्जिकादिभिर्युतम्। बहुत्वेन व्यञ्जनस्थानीय-

विभावानां भेदं, रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति। भक्तं भुञ्जाना आस्वादयन्तीति। आस्वादनेन, रसनाव्यापाराद् भोजनाधिको यो मानसो व्यापार: स एव दर्शित:। एतेनैतदुक्तं भवति - आस्वादनं न रसनाव्यापार: अपितु मानस एव। स चात्राविकलोऽस्ति केवलं लोको रसनाव्यापारानन्तरभावी समाहितमनसां व्यापार: (मानस:) अत: लोकेऽविनाभावसम्बन्धेनोपचर्यते रसनव्यापरतयेति।

भावाभिनयसम्बद्धस्थायि .... इति अत्र सम्बंद्धान् इति पाठोऽनादेय: भारतीविरुद्धत्वात्। भावा: - शुद्धस्वरूपज्ञानस्वभावा विभावव्यभिचारिणोऽत्र गृहीता:। अभिनया: - अनुभावा एव, अनुभावस्यापि भावपदेन ग्रहणसम्भवात् प्राधान्याद् भावाद् पृथग्ग्रहणं कृतम्। तैर्ये: सम्बद्धा हृदयसंवादक्रमेण तन्मयी-भावापन्नप्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता आ-समन्तात् साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशाद् अचिन्त्या विलक्षणा स्थायिभावा:, तान् मनसा-इन्द्रियान्तरविघ्नसम्भावनाशून्येन स्वादयन्ति स्वपरविवेकशून्यस्वाद-चमत्कारपरवशतया लौकिकात् प्रत्ययाद् उपार्जनादि- विघ्नबहुलात्, योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वादशून्यपरुषाद् विलक्षणाकाँस्सुख-दु:खादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना (मनसा) भुञ्जते। बुधा: - लौकिकानां प्रत्यक्षानुमानादीनां रसानुकूल-विभावादिपूर्वपीठिकोपयोगो दर्शित:, अत: प्रत्यक्षादिप्रमाणेषु ये निष्णाता: बुधा इति ।

तस्मानाट्यरसा: स्मृता:। नाट्यरसा इति नाट्याद्रसा:, यदि वा नाट्यमेव रसा:। रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्यपदेन दशरूपक-काव्ययोरुभयो: संग्रह:। काव्येऽपि नाट्यायमाने एव रस:। नाट्यायमानत्वं च प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदय:, स च काव्यविषयेऽपि। यदाहकाव्यकौतुके -

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये आस्वादसम्भवो न। प्रयोगत्वापत्ति: प्रत्यक्षत्वापत्ति:। तत्र काव्येऽपि वर्णनोत्कलिता उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावा भोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिता: स्फुटं प्रत्यक्षकल्पा भवन्ति।

यथोक्तम्-

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भव:।

वर्णनोत्कलिता भोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिता:।।

उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावा: प्रत्यक्षवत्स्फुटा:।।[३८] इति

अन्येतु प्रत्यक्षत्वाभावेऽपि काव्यस्य, गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहु:।

वयं तु- काव्यं तावन्मुख्यत: दशरूपकात्मकमेव, नाट्याङ्गं ब्रूम:। दशरूपके हि उचितैर्भाषावृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभी रसवत्ता पूर्यते। काव्ये तु सर्गबन्धादौ नायिकाया अपि संस्कृतोक्तिरित्यादिबहुतरमनुचितमपि केवलं शक्तिसहितत्वाद् व्यावर्ण्यते। काव्ये (संस्कृतोक्तिवति) तावतीव हृद्यमिति न्यायेनानौचित्यं न प्रतिभाति।

अतएवोच्यते ''सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेय:'' इति । तेनैव तदङ्गसन्ध्यादिसंघटनं मुख्यं, सर्गबन्धादियावन्मुक्तम्। यत्तु दशरूपकं तस्य योऽर्थस्तदेव नाट्यम्, यद् वक्ष्यते 'नाट्यस्यैषा तनू: स्मृता' इति। दशरूपकस्य (तस्य) हृदयसंवादतारतम्यापेक्षया श्रोतृबोधृस्फुरणस्फुटत्वेनातिविचित्रम्। तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। निर्मलहृदयानां तथाविधदशरूपकवर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणाग्राह्यो रससञ्चयो नाट्यलक्षण: स्फुट एव। ये तु अनिर्मलहृदया: (अतथाभूता:) तेषां प्रत्यक्षोचित-तथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोधशोकादि सङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहकं हि नाट्यमिति न्यायात्।

अस्यायमभिप्राय: - नाट्याङ्गं शब्दप्रधानत्वात् दशरूपकं काव्यमेव, तदतिरिक्तं लास्यादिकमपिनाट्यम्। ये संस्कारान्निर्मलहृदयास्तेषां दशरूपकतनुभूतशब्दश्रवणेन साधारणरसनात्मकचर्वणाग्राह्यो रससञ्चय:, ये संस्काराल्पादविमलहृदयास्तेषां कृते नटगीतवाद्यादि: परिमितक्रोधशोकाद्यपनयनाय, साधारणरसनात्मकचर्वणोत्पादनाय च नाट्ये विरचितं। अत: काव्यरूप नाट्याङ्गत्वे

नास्तिक्षति:। अत: काव्यं नाट्यमेव। तेन नाट्य एव रसा न लोके।

यत्तु समुदायरूपं नाट्यमेव रस:, न काव्यमिति तन्नोचितम्। समुदायात्मकनाट्यगते नटे, चित्रपुस्तादौ वा न रस:। कुतश्चेत्, तर्हि देशकालप्रमातृभेदानियांत्रितो रस:, नटस्तु अतादृश:। नटे तर्हि किम्? उच्यते—आस्वादनोपाय:। अतएव च पात्रमित्युच्यते। नहि पात्रे मद्यास्वाद: अपितु तदुपायक:। तेन प्रमुखपात्रे नटोपयोग इति। चित्रपुस्ताद्यपि नाट्यस्यैवार्थभागाभिष्यन्द:, यथा सर्गबन्धादि: शब्द भागाभिष्यन्द:। अत: नाट्यकाव्ययोरुभयत्र सर्वत्र न रसवत्ता, तर्हि कथं नाट्यमेव रस: न काव्यम् इतिवक्तुं शक्यते।

अन्ये तु नाट्याद्रस: नाट्यरस: इति वदन्ति। अभिनयादि-सामग्रीमयं बहिर्दृश्यमानं नाट्यं नटधर्म: कर्मरूपमित्याशयेन नाट्याद् रसा इत्याहु:।

''नाट्यरसा: स्मृता:' इत्यत्र स्मृता इत्यनेन सम्प्रदायाविच्छेदं दर्शयति। ये तु (शङ्कुकादय:) रत्याद्यनुकरणरूपं रसमाहु: 'शोक: अनुक्रियमाण: कथं सुखहेतुरिति पूर्वपक्षमुपस्थाप्य समादधते अस्ति कोऽपि नाट्यगतानां विशेष इति''। तत्र, शोक: कथमिति.....'' पूर्वपक्ष एवासत्। अनुक्रियमाण: प्रतीयमानो वा कश्चनापि प्रत्येतुर्दु:खं हर्षादिकं माध्यस्थं वा न वितनोति। न चात्र प्रतीयमानमात्रस्थितौ दु:खादिविताने, कश्चन नियम: शत्रुगतशोकप्रतीतौ व्यभिचारात्। अत: उक्तपक्षनिराकरणाय (नाट्यगतानां) भावानां वस्तुस्वभावमात्रेण न शोकादिरिति समाधाने न किञ्चित्तत्वम् पश्यामि। अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दु:खाशङ्का। केवलं संवेदनस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापार: तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापार: इति सुस्थम्। यथोक्तम्-

अन्ये स्मृता इति .... तत्वम्।

अत्राह- ''किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसनामिति। केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृतिरिति। तन्न।''

यदेतदुक्तं रसतत्वं तदेवोपशोधयितुमुपक्रमते- अत्राहेत्यादिना।

चोद्यमुखेन (अनुपदोक्तानुकारवादादिपक्षेण) तद्रूपतानुसंधान-बलान्नर्तकेऽपि रसः इति भट्टलोल्लटः। अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गात्प्रतीयमानः स्थायिभावः, रामादिस्थाय्यनुकरणरूपो रसः'' इति शङ्कुकः। शङ्कुकनयेन च, नर्तकगतेभ्यो रसेभ्यो भावाः सामाजिके। यथा करुणाच्छोकः। इति रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिः इतिप्रथमपक्षः। ततः सामाजिके शोकादिभावः विभावाद्युपचितः करुणः इति भावेभ्यो रसानामभिनिवृत्तिः इति द्वितीयः। इत्थं रसाद् भावो भावाद्रसः इति सन्देहः। अतएव कालभेदेन परस्परं जन्म इति तृतीयोऽपि पक्षः। अथवा भट्टलोल्लटानुसारेण ''तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः, स्थायी भवत्वनुपचितः'' इत्युक्त्या, नट एव राम एव चापूर्वं भावः। ततः विभावादेरुपचये रसः। असम्यगविभावादेस्ततोप्यपचये भाव इति इत्थं परस्परं रसभावादेर्निर्वृत्तिः स्पष्टा। तदेतन्न- इदञ्चासत्। एवम्भूतस्य रसस्वरूपस्य निराकृतत्वात्।

श्रीशङ्कुकस्त्वाह- अनुकर्तरि (विद्यमानान्) रसान् आस्वादयतः सामाजिकस्य अनुकार्ये रामादौ भावप्रतीतिः। प्रयोगे तु भावप्रतीती रसं निष्पादयति इति रसेभ्यो भावाः, भावेम्यो रसः इति— पक्षद्वयस्योत्थानम्। यदा प्रयोगे भावप्रतीतिः, रसं निष्पादयति तदानीं भावप्रतीत्यर्थं नाट्याचार्याभिप्रेतशिक्षा नट आवश्यकी। शिक्षानिर्वर्तितभावेनैव रसप्रतीतिः इति भाव। अतः एव च कालदेशभेदात् परस्पराभिनिर्वृत्तिरपि संभवति इति। एतदप्यसत्। नहि सामाजिको अनुकार्यानुकर्तृविभागमवैति। दूषितश्च पूर्वं स्वानुकरणवादः।

तस्मादित्थं एतत् -

किं रसेभ्यो भावा, उत वियर्पयः, आहो अन्योन्यजनकतेति त्रयः प्रश्नाः। तत्र विभावानुभावेति विभावादिभ्यस्तावद्रस-निष्पत्तिरुक्तेति द्वितीयः पक्षोऽभ्युपगतपूर्वम्, एतच्च विकल्पकं कुतः? इति पृच्छायां उच्यते- नहि लोके विभावानुभावादयः केचन भवन्ति, हेतुकार्यावस्थामात्रत्वाल्लोके तेषाम्। अतस्त एव हेत्वादयो

रसनोपयोगित्वे विभावादिरूपतां प्रतिपद्यन्ते। तर्हि रसप्रसादाद् भावा विभावादय:। अथोच्यते'' विभावादिप्रसादाद्रसो यथोक्तं प्राक्, रसप्रसादाच्च विभावादिरूपत्वम् इति। अत: पक्षत्रयस्योत्थापनं सम्भवति। परस्परसम्बन्धादेषामभिनिवृत्तिरित्यनेन परस्पराश्रयत्वमितरेतराश्रयत्वं च प्रकल्पत इति आक्षेप:।

तत्र इत्युक्त्वा सिद्धान्तपक्षमाह -

दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिवृत्ति: न तु रसेभ्यो भावानामभिनिवृत्तिरितिभवन्ति चात्र श्लोका: -

नानाभिनयसम्बद्धान् इति-

भावयन्ति परस्परम्।।[३९]

प्रमदादय: प्रतीता: सन्तो रसास्वादं विदधते, अतो न रसेभ्यो भावा:। भावशब्दार्थपर्यालोचनायां श्लोकस्तु नानाभिनयसम्बद्धान् इति। नानाभिनयै: सम्बद्धान् हृदयङ्गतान् इमान् रसान् भावयन्ति सम्पादयन्ति इति भावा:।

ननु एतद् भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं न किञ्चिद्रसाभिनिवृत्तिनिमित्तमिति आशङ्क्य प्रकृते योजयितुमाह-

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनमनुपानादि, अत्र प्रकृते व्यञ्जनशब्देन रसोऽभिप्रेत: बहुविधैरित्यत्र बहुपदं व्यञ्जनरसस्योपलक्षणम्। अर्थाद् बहुविधैर्विभावादिभि: भिन्ननवरसव्यञ्जनमिति।

अथवा सामानाधिकरण्येनोक्तत्वाद् अभिनयैरित्यस्य विशेषणम्। इत्थं नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्यथा अनुपानादिरसो भाव्यते तथैव बहुविधैरभिनयै: सह भावा रसान् भावयन्ति।

न भावहीनोऽस्ति इत्यादिना स्थितपक्षमुपसंहरति -

न भावहीनोऽस्ति रस इति पुनश्च चोद्यवादी स्वाभिप्रायमुन्मीलयति न भावो रसवर्जित: इति। लोके हि कश्चिद् भावो विभावादिव्यवहारो न, रसप्रसादाद् विभावादिव्यवहार: इति। उत्तरमाह-

'परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्'। अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने रसोपयोगितया विभावादिव्यपदेश:, इत्यतो या परस्परकृता

सिद्धिः सा भद्रं भवेत् इति सम्भाव्यते। एवम्भूतमितरेतराश्रयजो न दोषः। यथा चात्र- व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् इति। व्यञ्जनौषधिसंयोगः, अन्नं च परस्परम् अन्योन्यं कर्मभूतं यथा स्वादुतां नयेत्, तथा भावा रसाश्च अन्योन्यं भावयन्ति। भावा रसान् भावयन्ति निष्पादयन्ति, रसास्तु भावान् भावयन्ति कुर्वन्ति। भावादिव्यपदेशान् कुर्वन्ति इत्यर्थः। अत्र नान्योन्याश्रयजो दोषः। यतो हि– एकत्र एकदा क्रियायामन्योन्याश्रयत्वं दोषो न तु क्रियाभेदे। यथा व्यञ्जनादिसंयोगेनान्नस्याहलादिरसवत्ता क्रियते, अन्नेन चाश्रयरूपेण सता व्यञ्जनसुखयोग्यता क्रियते, एवं भावै रस्यमानता रसैश्च विभावादिव्यपदेश्यता कारणादीनाम्। यथा पटापेक्षया तन्तवः पटकारणम् इति व्यपदेश्याः, तन्त्वपेक्षया पटः कार्यः। न चेतरेतराश्रयत्वं तथा प्रकृतेऽपि।।

नुन यदि भावेभ्यः रसाः (विभावादिसंयोगादिति) तर्हि कथमुक्तम् न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते इति, तेन पूर्वं रसा एवोद्देश्याः भावादयश्चविधेयाः इत्याशङ्क्य आह –

यथाबीजाद् भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः।।

बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः, तन्मूला हि प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्तिः। बीजस्थानीयत्वेन रसा व्याख्यानार्हाः।

कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरःसरो नटव्यापारः। सैव च संवित्परमार्थतो रसः। तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य सामाजिकस्य पश्चाद् अपोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति। प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च तदेव मूलं बीजस्थानीयः कविगतरसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। अतएवोक्तम् ''शृङ्गारी चेत् कविः''।[४०]

ततो वृक्षस्थानीयं काव्यं तत्र पुष्पस्थानीयोऽभिनयादि-नटव्यापारः, तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः तेन रसमयमेव विश्वम्।

अत्रैव कविगतसंविन्मूलत्वेन विज्ञानवादः अपोद्धारबुद्धया द्वैतवादः

(द्विधाभिधानवादः) सामाजिकधिया स्फोटवादः कविनिष्ठ-संविन्मूलरससत्तया काव्यादिषु रसमयत्वात् सत्कार्यवादः, सर्वे विभावादयः स्थायी च रसैकतत्वमन्ते इति एकत्ववादः द्रष्टव्यम्।

केचन तु भावो बीजस्थानीयः, रसो वृक्षस्थानीयः, "भावाद्रसः" रसाद् अभिनयः पुष्पस्थानीयः फलं च भावस्थानीयम् इति मत्वा, भावाद् रसः, रसादभिनयः, अभिनयात्पुनः भावफलमिति मन्यन्ते। प्रतीत्या स एव भावो भुज्यते इति व्याचक्षते। तैः प्रकृतविरुद्धं सर्व व्याख्यातम्। एवञ्च भावस्योपक्रमपर्यवसानवर्तित्वमुक्तं स्याद् इत्यन्यदास्ताम्।

एवञ्च रसेभ्यो भावोः, उत भावेभ्यो रसाः, उतः परस्परम—भिनिवृत्तिरेषामिति त्रयोऽपि पक्षाः कथञ्चिदुपगता अभिप्रायवैचित्र्येण व्याख्यातृभिरिति तात्पर्यम्।

सिद्धान्तपक्षश्च "एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्" तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः" इत्युक्त्या स्पष्टीकृता।

एतत्सर्वं रससूत्रस्य निष्पत्तिपरं व्याख्यानं खण्डन निरसनपुरःसरं। काव्यप्रकाशे संगृहीतम्।

तत्र रसस्वरूपमाह- तत्रेति असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यान्तर्गत-रसभावादिमध्ये। रसस्वरूपमाह - कारणान्यथ ....।

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति भरतसूत्र-मादाय काव्यप्रकाशे चत्वारि मतानि रसगङ्गाधरे एकादशमतानि दर्शितानि। अत्र चतुर्षु मतेषु भट्टलोल्लट-भट्टशङ्कुक-भट्टनायक-अभिनवगुप्ताभिधाचार्याणां क्रमेण मतानि निरूपितानि।

सूत्रेऽस्मिन् विभावः, रत्यादेः कारणम्, स च लौकिकः अलौकिकश्च। अनुभावः, रत्यादेःकार्यम् सोऽपि द्विविधः पूर्ववत्। व्यभिचारी च सर्वथाऽभिव्यज्यमानः, तत्तद्विभावादिसम्बद्धः, तथैव। संयोगस्य, जनकत्वप्रत्यायकत्व-पोषकत्व-गम्यगमकत्व-भावकत्व-व्यञ्जकत्वानि अर्थाः। स्थायी अपि क्वचिद्रत्यादिमात्रं क्वचित्स्थायिमात्रं। रसः - लौकिकः अलौकिकश्चेतिद्विविधः।

अलौकिको रसः सिद्धः, साध्यरूपश्चेति द्विविधः। सिद्धत्वं त्रिषु मतेषु, अभिनवेषु तु साधारण्येन स्वाकारवदभिन्नोऽपि गोचरीकृतः इत्यादिना साध्यरूपत्वमस्य निर्दिष्टम्। अलौकिको रसः सर्वेषु मतेषु सहृदयास्वाद्य एव। लौकिकरसस्तु रामादिनिष्ठः, नटादिनिष्ठोऽपि। रसस्य, सहृदयैः प्रतीयमानत्वेनानुमीयमानत्वेन वा क्वचित्सहृदयास्वाद्यत्वम्। क्वचित्तु स्थाय्युपहितस्वात्मानन्दप्रकाशरूपत्वेन आत्मनिष्ठत्वेनास्वाद्यत्वम्। यत्रात्मनिष्ठत्वेनास्वाद्यत्वं तत्र विभावादेः साधारणीकरणमपि। साधारणीकरणमपि भावकत्वव्यापारसाध्यं क्वचित्तु विभावादिनिष्ठविभावनत्वादिनैव, नातिरिक्तेन व्यापारेणेति।

रसास्वादनायापि क्वचिद्भोगेन व्यापारेण, सिद्धस्य रसस्य भुज्यमानत्वं विषयीकृतत्वम्। अन्यत्र विभावादिचर्वणाऽभिन्नरसस्य चर्वणात्मतया निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनमेवर्थः। न चात्र षष्ठीतत्पुरुषः। इत्थं, लोल्लटाद्यनुसारेण क्रमशः विभावस्य, अनुभावस्य, व्यभिचारिभावस्य प्राधान्याद्रसनिष्पत्तिः। चतुर्थमते तु विभावादिरतिव्यञ्जनादिसमरूपचर्वणविश्रान्तित्वात् नास्ति प्राधान्याप्राधान्यचिन्ता।

मुख्यादिवृत्या रामादिनिष्ठत्वाद्रसस्य लौकिकस्य, विभावप्राधान्येन स्थितिः। विभावानुभावव्यभिचारिणां सर्वेषां गमकत्वेन स्वीकृतौ रत्यार्देर्गमकानुभावसमबलत्वादनुभावप्राधान्यम्। अभिव्यक्तस्यैव भावत्वात् साधारण्येनैवावस्थानात् साधारणीकृतविभावादिरत्यादेः सम्बन्धविशेषशून्यापरिमितभावत्वाद् भोगेन भुक्तिः।

सर्वाणि मतानि अर्थांश्च संग्रहीतुं परमाचार्यमम्मटः कारिकाद्वयं निबध्नाति।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्त स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।। इति

व्यक्तः - कारणादेः जनितः प्रतीतः पुष्टः रामादिनिष्ठः

लौकिक: रस:, स्मृत: प्रतीयमानस्तु अलौकिक:।। इति लोल्लट:।

कारणान्तरविभावादिगमकै:, व्यक्त:, अनुमित: नटादिनिष्ठ: स्थायी, सहृदयै: स्मृत: चर्व्यमाणोऽलौकिक: इति शङ्कुक:।

व्यक्त: - साधारणात्मतयाभावकत्वव्यापारेण भावित:, स्थायीति-स्थाय्युपहितसत्वोद्रेकप्रकाशितस्वात्मानन्दरूप: स्थायी निष्पद्यते भोगाख्येन व्यापारेण भुज्यते इति। अत्र स्मृत: भोगेन भुक्त:। स्थायी उपर्युक्तस्वरूप:स्थायी रस:। तुरीये तु व्यक्त: व्यञ्जनाविषयीकृत: स्थायी - चिदानन्दविशिष्टात्मा स्थायी स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मा रस: स्मृत: - इति रसाभिन्नस्मृति:। स्मृतिचर्वणाद्यभिन्नरूपो रस:। अत: स्मृत: स्वरूपेण प्रकाशनमित्यर्थ:।

इत्थं रसनिष्पत्तिरिति पूर्वमतत्रये रसस्य सिद्धत्वं रसस्य निष्पत्तिरिति षष्ठीसमास:। तुरीयमते तु स्वप्रकाशनरूपनिष्पत्यभिन्न: इति विवेक:।

तैर्विभावाद्यै: - इत्यत्र तै: पदेन पूर्वोक्तविभावादेर्ग्रहणस्य सुकरत्वात् पुन: विभावादिग्रहणं पुनरुक्तमिति प्रश्नोऽनुत्थोनोपहत:। तै: पदेन कारणादे: गृहीतत्वात् लौकिकरसनिष्पत्तये।

तत्र भट्टलोल्लट: - विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै रत्यादिको भावो जनित:, अनुभावै: कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभि: कार्यै: प्रतीतियोग्य: कृत:, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभि: सहकारिभिरूपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतय:। सूत्रस्थविभावादे: कारणकार्यसहकार्यर्था: इति। स्थायीत्यस्य रत्यादिको लौकिको भाव:। रस इति लौकिकोऽलौकिकश्च। यथोक्तं रसतरङ्गिण्यां भानुदत्तेन षष्ठतरङ्गे- स च रसो द्विविध:। लौकिकोऽलौकिकश्च। लौकिकसन्निकर्षजन्मा रसो लौकिक:। अलौकिकसन्निकर्षजन्मा रसोऽलौकिक:। पण्डितराजोऽपि- मतेऽस्मिन् साक्षात्कारो दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादि-विषयकरतिमान् इत्यादि प्राग्वद्धर्म्यंशे लौकिक: आरोप्यांशे त्वलौकिक:। इति।

तथा च सूत्रस्थसंयोगादित्यस्य विभावादिसम्बन्धात् जनकत्वाद्यर्थः। सूत्रस्थपूर्वपदस्य समासस्तु विभावश्चानुभावश्च- व्यभिचारिभावश्चेति द्वन्द्वः। तेषां संयोगादिति संयोगस्य द्वन्द्वान्तेश्रूयमाणत्वात् प्रत्येकं सम्बन्धः। इत्थम् -

विभावेन ललनोद्यानादिना कारणेन स्थायी रत्यादिको जनितः, अनुभावेन कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिना संयुक्तः (स्थायी) प्रतीतियोग्यकृतः, व्यभिचारिणा निर्वेदादिना सहकारिणा संयुक्तः पुष्टः स्थायी, कारणादेः लौकिकस्य प्राधान्येन संयोगात् लौकिकः, अतः मुख्यया वृत्या लौकिकसन्निकर्षात्मसाक्षात्सम्बन्धेन रामादौ, रसस्तिष्ठति। रामरूपतानुसंधानात् नर्तकेऽपि स रसः लौकिक एव। प्रतीयमानः सामाजिकैः रामादिनर्त्तकादौ प्रतीयमानः, प्रत्यवगम्यमानः, अलौकिकः रसो निष्पद्यते इति रसनिष्पत्यन्तसूत्रार्थः।

रामनटगतयोर्लौकिकयोरपि रसयोरानन्दरूपत्वादानन्दाश्रय-विभावस्यैवप्राधान्यं लक्ष्यत इति विभावादिप्रधानमिदं मतम्। रामादौ रसस्थितिः सामाजिकैः प्रतीयमानत्वेन तस्य निष्पत्तिः इत्यपि सुवचः। ऐतन लौकिको रसः स्थाय्यपरपर्याय एव सूत्रेऽनुपात्तस्य स्थायिनः रसपदादेवात्मलाभः इत्यपि।

एतेन अनुकार्ये रामादावेव रसनिष्पत्या सामाजिके रसनिष्पत्यभावात् सामाजिकानां चमत्कारानापत्तिरित्यरुचिं मनसि निधाय शङ्कुकमताविर्भावः इतिवदंष्टीकाकारो निरस्तः। प्रतीयमान इति पदेन सामजिकनिष्ठत्वेऽपि मम्मटानुसारेण नास्ति क्षतिः। अभिनवभारत्यनुसारेण तु स हेतुः स्यात्।

तत्र श्रीशङ्कुकः - राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिकबाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद् वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे -

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता।।

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्।।

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वत्तितस्वकार्य-प्रकटनेन च नटेनव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगाद्' गम्य-गमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद् रसनीय-त्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सभाव्यमानो रत्यादि-भावस्तत्राऽसन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

अत्र विभावस्तु न रामादिः, अपितु सम्यङ्मिथ्यासंशय-सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणप्रतीत्या तद्रूपत्वात् नटादिः विभावः। यद्यपि सम्यग्रामादिगमकैः सम्यग्रत्यादेरनुमितिरेव न्यायसङ्गता, तथापि मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिविलक्षणत्वात् सम्यक्प्रतीतिविलक्षणेऽपि नटे कथचिञ्चित् चित्रतुरगादिन्यायवत् सम्यङ्प्रतीतिरनुमित्यर्थं विधीयते। अतः कृत्रिमाणां नटनिष्ठानां गमकत्वेन स्वीकृतानां कार्यकारणसहकारिणां तथानभिमन्यमानत्वं सूत्रे विभावादि-व्यपदेश्यत्वम्। यथा रत्यादिस्थाय्यवबोधनेऽनुभावस्य (हेतुत्वं) गमकत्वं तथैवात्र सर्वेषां विभावादीनां गमकत्वम्। अयं एतद्विषयकरतिमान् एतद्विषयककटाक्षविक्षेपादिमत्वात् इत्यादिना बोध्यम्। अतः संयोगात् अकृत्रिमत्वेन स्वीकृतानां कृत्रिमाणामेव संयोगात् गम्यगमकभावात् रत्यादिरनुमीयमानः किन्त्वयं रत्यादिर्न सत्यः, अपितु नटादौ स्थितत्वात् स्थायित्वेन सम्भाव्यमानः, सूत्रेऽनुपात्तः स्थायी सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणः सन् रसो भवति।

अत्र नास्ति पूर्ववत् लौकिको रसः, अपितु अनुमीयमानः पदार्थः रत्यादिस्थायीभावः, चर्व्यमाणः स रस इति विवेकः। अत्र वासनया चर्व्यमाणत्वम् नाभिनवगुप्तमतवत् वस्तुतोऽन्यत्रासन्नपि, रत्यादिभावः, अनुमित्स्यमानवासनया ज्ञानविषयीभूतत्वमेव चर्व्यमाणत्वम्।

अभिनवभारत्यां तु- पूर्वं शङ्कुकमतं निर्दिश्य- स्वोपाध्यायमतेन तस्य खण्डनमपि निर्दिष्टम् तत्रापि स्थायिन:, लिङ्गत्वेन विभावाद्ययोगे विभावानां, अवस्थाद्यनुभावानां तथा च स्थायिन: शोकादेरानन्त्य-विपर्ययादिदोषदर्शनाल् लिङ्गत्वे हेत्वात्म-विभावादिभि: कृत्रिमैरपि नटस्थत्वेन लिङ्गबलत: प्रतीयमान: स्थायी भाव: मुख्यरामादिगत-स्थाय्यनुकरण: रस:। विभावा काव्यबलाद् अनुभाव: शिक्षात:, व्यभिचारिण: अनुभवाभ्यासबलाद् अनुसन्धेया:। स्थायी तु अन-भिधेयत्वात् केवलमभिनीयत्वात्, न 'रति:-शोक' इति वाग्बलाद् अनु- सन्धीयते इति काव्यबलादपि नानुसन्धेय:। अत: विभावानुभावेति सूत्रे स्थायी न निर्दिष्ट:। स असत्योऽपि अनुक्रियमाण: रस:। अर्थक्रिया मिथ्याज्ञानादपि दृष्टा मणिप्रदीपप्रभयो:मणिबुद्धित्ववत्। नटे च 'य: सुखी राम: असावयमिति, सम्यगादिप्रतीतिभ्यो विलक्षणप्रतीतिरिति संक्षेप:।

भट्टनायकस्तु - न ताटस्थ्येन नात्मगत्वेन रस: प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि-साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमान: स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यत इति भट्टनायक:।

आश्रयविभावप्राधान्येन रसनिष्पत्तिरिति लोल्लटविवेक:। लिङ्ग-प्रधानत्वेनानुभावप्राधान्योपायेन रसनिष्पत्तिरिति श्रीशङ्कुक:। भाव-प्राधान्येन रसनिष्पत्तिं मन्वान: श्रीभट्टनायक:, विभावानुभावादे र्विशेष्य-धर्म्यादिनिर्मुक्तविगलितदु:ष्यन्तरमणीत्वादिभावनात्मभावमात्रोपलब्धये साधारणीकरणात्मभावकत्वव्यापारस्य स्वीकृति:। साधारणी-कृतविभावानुभावभावानां भावत्वेनैव लाभ: इति भावप्राधान्यम्। सूत्रस्थसंयोगपदस्य भावकत्वमर्थ:। साधारणी-करणात्मना भावकत्वव्यापारेण साधारणीकृतानां विभावादीनां साधारणीकृत: स्थायी भोग्य:, भावकनिष्ठसंविद्विश्रान्ति-सतत्वेन भोगेन भुज्यमानत्वं निष्पत्ति:। भोगोऽयं सत्वोद्रेकात् प्रकाशानन्दमय:। संविद्विश्रान्तिसतत्वं

काष्ठाधिरूढविषयगन्ध-वासितज्ञानमात्रात्मकत्वम्। अतोऽत्र न आश्रयस्य प्राधान्यम् नोपायस्य। अत उच्यते न ताटस्थ्येनेति। दृश्यकाव्यप्रत्यासन्नास्त्रयः ताटस्थ्येन अनुकार्यरामादिः, नर्तकश्चेति द्वौ। सामाजिक इति तृतीयः। तत्र, भट्टलोल्लटो लौकिकः "रसोऽनु-कार्यनिष्ठः नर्तकनिष्ठोऽपि तद्रूपतानुसन्धनात्। प्रतीयमानश्चेत्यादिना सहृदयेन ज्ञायमानत्वं। शङ्कुकोऽपि- स्थायीरत्यादिरेव रस इति चेत्, तदानीं रामादेरेव रतिः, नर्तकेऽसन्नपि उपचर्यते अतः रामनिष्ठो वा उपचरितनर्तकनिष्ठो वा रसः सहृदयैरनुमीयते पुनःपुनः वासनयेति स रसवान् भवति। अतोऽत्रापि तटस्थत्वेनैव त्रयाणामुपादानम्। परिमितप्रमातृत्वाद् नात्मगतत्वेनैव कैश्चित् रसमनुभवितुं शक्यते। आश्रयं प्रदूष्योपयोऽपि विदूष्यते। यैश्च प्रतीयते, अनुमीयते अथवा अवस्तुत्वेन प्रतिभासतयाधिगमयते, उभयत्रानुमानप्रतिभासना-द्युपायोऽसङ्गतः। उत्पद्यते इति लौकिकरसापेक्षया भट्टलोल्लटः, रामादौ वास्तविकरत्यादिसत्वेन तत्र जन्यते इति जन्यजनकभावोऽप्यसङ्गतः। अभिव्यज्यते इति व्यञ्जकप्रदीपादेर्घटाद्यतिरिक्ततटस्थस्यापि यथा व्यञ्जकत्वं न तथा विभावादेरिति नाभिव्यज्यते।

अतः संयोगादित्यस्य प्रत्यायनप्रतिभासनोत्पादनाभिव्यञ्जना-तिरिक्तभावकनिष्ठभावनमर्थः। इत्थं विभावादयो पदार्थाः भावकात्मा-धिकरणमारुह्य निर्विशेषतया भावनात्मतया स्थिताः। तयैव भावकत्वभावनया भाव्यमानः स्थायी, वृत्तिस्थो रसः तस्य निष्पत्तिः, नातिरिक्तव्यापारेणापि तु प्रकाशानन्दमयेन विगलितवेद्यान्तरसंविदैव भोगेन। अतः विशेषसहृदयस्याश्रयत्वमपि निष्पद्यते। इत्थं रसात्मस्थाय्युपलब्धौ भावकत्वव्यापारः निष्पतौ तु भोगव्यापारः। अत उक्तम-

अभिधाभावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः।।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः।।

तद्भोगीकृतरूपेण भोगेन व्याप्यते निष्पद्यते। इत्यर्थः।

अत्र भोगोऽयं, आस्वाद्यास्वादनप्रतीतिरूपो वा तद्भिन्नो विभावादिजनित चर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनरूपः। तत्र नाद्यः, आस्वाद्यस्यानन्तत्वात्तदास्वादनप्रतीतयोऽप्यनन्ता इति भोगस्यानन्त्यम्। तथा भोगोक्तिमात्रेण भोक्तृग्रहः सुकरः इति भोक्तृत्वेन भोगस्य परिमितत्वमपि संभवेत्। द्वितीयञ्चेत् सत्यम्।

संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवः रसः काव्यादि उच्यते।। इति।

व्यङ्ग्य इति व्यज्यमानतया लक्ष्यते। आत्मानुभव इति। अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम्। इति। इत्थमात्मानुभवविषयो रसः न तु चर्वणात्मकास्वादप्रत्ययात्मकः इति।

श्रीमदभिनवः रसनिष्पत्तिं निरूपयन्नाह - उपर्युक्तमतत्रयेऽनुक्तेन स्थायिना पञ्चम्यन्तविभावादेः सम्बन्धः अत्र तु सर्वेषां साधारणीकृतानां विभावानुभावव्यभिचारिस्थायिनां संयोगादिति ल्यप्लोपे पञ्चमी, संयोगमारुह्य रस इत्यर्थः। अत्र घञन्तयोगस्यैव प्राधान्यं भावनिर्देशात् न वस्तुनः। अत उक्तं नन्वेवं रसोऽप्रमेयः, स्यादेवं, युक्तं भवितुमर्हति। रस्यमानतैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः। इति।

रसस्यनिष्पत्तिरिति रसनाया निष्पत्तिः। रसनाया भावरूपत्वम्।

ननु विभावादयोऽर्थाः काव्यनिष्ठाः स्थायी च वासनात्मतया स्थितः सहृदयहृदयनिष्ठः, कथञ्चैकाधिकरण्यमेतेषां संयोगायेति चेत्-विभावादेः सम्बन्धिविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात्मसाधारण्येन प्रतीतत्वात्सहृदयनिष्ठत्वम्। साधारणीकर्त्तुमत्र कः व्यापारः? भावकत्वं चेत् न काव्यीव्यापारस्य शब्दार्थनिष्ठत्वेन प्रसिद्धत्वात् भावकत्व-व्यापारोऽयुक्तः। तर्हि कथं साधारणीकरणमिति, भावनयैव किन्तु विभावभावनया। विभावादयो यदा सहृदयहृदयप्रविष्टा भवन्ति तदानीं तदीयसहृदयतासहकृतो विभावादिषु विभावनादिव्यापारः स्वयमेव समुत्पद्यते साधारणीकरणाय। अस्तु विभावादेर्विभावनादिव्यापारेण साधारणीकरणम्। स्थायिनो वासनात्मतया स्थितस्य सहृदयविशेष-

निष्ठस्य कथं साधारणीकरणमिति। साधारणीकृतविभावादेर्व्यञ्जनव्यापारस्य प्रादुर्भाव: तेन च अज्ञानावरणात्मकपरिमितप्रमातृत्वादेर्विगलनम् तेन च स्थायिन: साधारणीकरणम्। साधारणीकृतानां सर्वेषां साक्षिभासानां संयोग एव चर्वणा रसना, तस्या: निष्पत्ति: रस:, एतेन नास्ति वस्तुत: व्यञ्जनेन रसाभिव्यक्तितत्वं किन्तु रसनिष्पत्तये सर्वापेक्षया स्थायिन एव प्राधान्यात् तस्य चाभिव्यक्ततत्वाद्रसोऽप्यभिव्यज्येत नामोपाचारत: न साक्षात्। अत उक्तं, संकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकारइवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राण: विभावादिजीवितावधि: इति। अभ्यासपाटववतां सम्बन्धेन विभावनादिव्यापारवत्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैरिति।

साधारणोपायबलादिति साधारणीकृतविभावादिजन्यव्यञ्जनव्यापारोपायबलाद् इत्यर्थो बोध्य:।

ननु सर्वेषां साक्षिभास्यानां योग एव रसो, भवतु किमुत योगमारुह्य रसनिष्पत्तिरिति पञ्चमीविभक्ते: सार्थक्यम् ? उच्यतेविभावादे: साधारणीकरणं सहृदयस्थस्य तमोरजोगुणाभिभवेन सम्यग् रसविरोधिविघ्नोपपादकानौचित्यादिपरिहारसत्वोद्रेकेण योगश्च, अत: योगसमकालमेव रसनाप्रादुर्भाव:, पश्चात् प्रकाशानन्दमयसंविद: परविश्रान्तिधामत्वे रस:। संयोगं यावन्नास्ति न तावत् परविश्रान्तित्वम्। अत: स्थाय्युपाहितचिदेव रस:। बोधोपहितस्थायियोगस्तु रसनैव, चर्वणैवेति। अत उच्यतेऽभिनवभारत्याम्। रसनाया: निष्पत्ति: रस:। निष्पत्ति:परिपाक:।

रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थ:, (चिदानन्दारूप:) रस: इति तात्पर्यं सूत्रस्य। रसनागोचर: इति, - गोचर:, विषय:, एको रसनाया: हेतुरपर: फलम्। बोधस्यफलरूपं, परविश्रान्तिचिदानन्दरूपरस एव सम्भवति। रसनिष्पत्तिरिति रसनाया निष्पत्ति: परिपाक:,

रस इति।

इत्थं चतुर्ष्वपि मतेषु सूत्रभाष्यमेव। नाट्यरसाः। इति आद्ययोर्मतयोर्नाट्यस्य रसः अन्त्ययोस्तु नाट्याद्रसाः इति। अतः उक्तम् -

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत्संवित्विकासे धिगतागमित्वम्।
इत्थं स्वयंग्राह्यग्रहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः।।

संविद्विकासोऽभ्याससिद्धः, तत्राधिगतपदार्थेभ्योपि किमपि तत्वान्तरबोधृत्वञ्चेत्, अपूर्वं किम्। अतो विभावादिप्रधानाधिगम-संविद्विकासेषु संयोगप्रधानत्वेनापि बोधे अपूर्वं न किमपि मन्तव्यम्। यद्यपि संयोगप्रधानसूत्रार्थे विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूप-प्रत्ययगोचरतापादनात्मके रसनारसयोर्हेतुकार्ययोरैक्यद्वन्द्वः स्वयं ग्राह्यत्वेनापतितः, अतो लोको मतमिदं दूषयिता किं न? अतः संविद्विकासे इदमेव निरवद्यमिति न वक्तुं शक्यम्।

उर्ध्वोर्ध्वमिति। धीः अक्लिष्टकल्पनया वाक्यादेव उर्ध्वोर्ध्व-मर्थतत्वमारुह्य यत् तत्वं पश्यति तत्तत्वफलं पूर्वजैः परिकल्पितानां विकासोपायपरम्पराणामेव फलम्।

चित्रमिति- कस्यचित्प्रमेयसिद्धौ प्रथमं यत्प्रमातुश्चित्तेऽवतरति तन्निरालम्बनमेव ज्ञानमात्रं चित्रम्। पश्चात् सदुपायलाभे तदेव निरालम्बनं चित्रं सेतुबन्धपुरप्रतिष्ठादिरूपेण परिणमति चेत्, न विस्मयितव्यम्। तस्मादिति - अतोऽत्र व्याख्याने सतां लोल्लट-प्रभृतीनां मतानि न दूषितानि, अपितु तान्येव शोधितानि। तदा-धारीकृत्य किमपि तत्वान्तरं प्रकाशितम्। पूर्वैः प्रतिष्ठापितासु योजनासु मूलप्रतिष्ठैव फलं विद्वांसः स्वीकुर्वन्ति। इत्यभिनवभारत्याः सामान्यश्लोकार्थः।

सर्वमिदमवधर्याचार्यमम्मटेन, लोके प्रमदादिभि ....।

अभ्यासपाटववतां सहकृतेन विभावादिषु विभावनव्यापारेण ममादिसम्बन्धविशेषनियमानिश्चयात् साधारणीकरणम्। साधारण्येन प्रतीतैश्च तैरभिव्यक्ते व्यञ्जनयाऽऽवरणाज्ञाननिरसनपुरःसरं

वासनात्मतया स्थित: स्थायी स्वाकारवदभिन्नवद् गोचरीकृत: सहृदयवासनात्मतया स्थित:पूर्वस्थायी यद्यपि नियतसहृदयगतत्वेन नियततया स्थितस्तथापि व्यञ्जनया कृताज्ञानावरणभङ्गात् परिमितप्रमातृत्वादेर्विगलनं तद्वशात्प्रमातुर्वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावत्वात्स्थायिनोऽप्यपरिमितभावात्मसाधारणीभाव:।

इत्थं पूर्वं विभावनादिव्यापारेण विभावानुभावव्यभिचारिणां साधारणीकरणम्, ततस्तत्प्रादुर्भूतव्यञ्जनया च स्थयिन:, साधारणीकृतानामेतेषां संयोग एवं चर्वणा, चर्वणामारुह्य निष्पन्नो रस:, अतश्चर्व्यमाणोऽपि चर्वणैकप्राण:, सर्वसंयोगात्मतया विभावादिजीवितावधि:, सम्यग्ललितोचितत्वादिना योगात् पानकरससदृक्, चर्वणयानिष्पन्नत्वाच्चर्व्यमाण:, चर्वणाभिन्नत्वात् (स्वाकारवदभिन्नत्वात्) चर्वणायाअवस्थां निर्दिशति, परारूढचर्वणा तु रस:, इति विवेक:। अत: पुर इव परिस्फुरन् धाराधिरूढतया अग्रकोटिमेवाभिसरन्, हृदयमिव प्रविशन्, हृदयं, चित्तवृत्ति:, यथा योगिनां, चिदि विशति तद्वद् परमानन्दचिदि प्रविशन्निव (परमाह्लादकत्वद्योतनाय) सर्वाङ्गं व्याप्नुवन्निवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् (वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यायेति) ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी, लोकोत्तरचमत्कारभूमि: रस इति। एतानि रसस्य पञ्चविशेषणानि, संयोगमवाप्तानां विभावानुभावव्यभिचारिस्थायिरसानामपेक्षया बोध्यानि।

स च न कार्य:, विभावादेश्चर्वणानतिरिक्तत्वात्, सिद्धत्वाभावात्। कार्यस्य सिद्धत्वात्। नापि ज्ञाप्य:, सिद्धघटादिपदार्थस्यैव दीपादिना ज्ञाप्यत्वम्। रसस्यातादृशात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीय:। व्यञ्जनया चर्वणया चोभाम्यां लभ्य:, आवरणभङ्गादनावृतचिदानन्दांश इवेतिभाव:। लोके सर्वं वस्तु कारकज्ञापकाम्यां कार्यज्ञाप्यान्यतरत्वमेव धारयति नान्यदिति कथं न कार्यो ज्ञाप्यो रस: इति? लोकेनियमो लौकिकस्य कृते, नालौकिकस्येति रसस्य लोकोत्तरत्वाय भूषणमेव न दूषणम्।

चर्वणानिष्पत्या परिपाकमधिरूढया चर्वणयाऽस्य संग्रहः, इति चर्वणानिष्पत्या अस्य रसस्य निष्पत्तिरुपचरिता लक्षिता। अतः सूत्रस्थरसनिष्पत्तिरिति रसपदस्य रसनायां चर्वणायामुपचारः दर्शितः। अतः निष्पत्याश्रयत्वाल्लक्षणयाऽयं, कार्योप्युच्यताम्।

लौकिकप्रत्यक्षादि-प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दात्मलौकिकप्रतीतिः, यच्च-ताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानम्- अपरिपक्वयोगिनां क्षणं प्रमाणौदासिन्येन स्वेतरजगद्भेदविषयकत्वमात्रावबोधः - यच्च वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरमितेतरयोगिसंवेदनम्, बाह्यार्थसंस्पर्शरहित स्वात्ममात्रपर्यवसितसंवेदनं, एतत्त्रितयविलक्षणं ललितोचितरसादिमात्रविषयतया लोकोत्तरस्वसंवेदनं तद्विषयो रस इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्।

नापि नामरूपजात्यादिविशेषशून्यं निर्विकल्पकं तद्ग्राहकं, विभावादेःपरामर्शजीवितत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य तस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्।

इत्थं कारकज्ञापकलौकिहेतुभ्यां, निर्विकल्पकसविकल्पकालौकिकहेतुभ्यां च विलक्षणत्वं लोकोत्तरत्वमिति श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः। लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैर् 'ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः, सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः, स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्काल-विगलित-परिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित-वेद्यान्तर-संपर्कशून्याऽपरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीविताविधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः, पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्,

सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरादधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्नलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य संभवप्रसङ्गाद्, नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासंभवात्, अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेद्, न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्व-सिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्।

चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिप्रत्यक्षादि-प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालि-मितयोगिज्ञान-वेद्यान्तर-संस्पर्शरहित-स्वात्ममात्रपर्यवसित-परिमितेतर-योगि-संवेदन-विलक्षण-लोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्।

तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकम्, विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकम्, चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदन-सिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

विभावानुभाव्यभिचारिणां सूत्रेनिर्दिष्टानां समस्तानामेवाभिव्यञ्जकत्वं न तु व्यस्तानाम्। अतः विभाव एव अनुभाव एव व्यभिचारी एव रसः इति वादिनां मतं निरस्तम्। व्यस्त-विभावादयोऽनैकान्तिकत्वात् न तावत् नियतस्थायिनं व्यञ्जन्ति यथा व्याघ्रादयः केवलमुपात्ताश्चेत् वीरस्यायं विभावो रौद्रस्य वाद्भुतस्येति संशयस्य सम्भवात्। एवमेव केवलमश्रुपातादयोऽनुभावाः करुणस्य वा शृङ्गारस्य वा भयानकस्येति। एवमेव चिन्तादयो व्यभिचारिणश्चेत् केवलं निबद्धास्तर्हि, ते करुणस्य वा शृङ्गारवीरभयानकानामपीति व्यभिचारसत्वात् न व्यस्तव्यञ्जकत्वं रसस्य। अतो मया पूर्वमुक्तमेकस्य सत्वे शेषयोर्द्वयोराक्षेपात्त्रयाणामेव व्यञ्जकत्वमिति।

केवलं[1] **विभावो** यथा-

आकर्णान्तचलायमाननयनप्रान्तोल्लसिभ्रूलता
कामोत्तम्भितदृग्विलासखचितानन्तप्रभाभासुरा।

माद्यद्धीरगभीरदिग्गजलसत्कुम्भर्द्धिचौरस्तनी
वैदग्ध्योल्लसितान्तरेन्द्रियगवीरोधाय यष्टिस्तनुः।। १ ।।

अत्र केवलं कामिनीतनुर्विभावो वर्णितः। शेषयोराक्षेपः।

केवलम**नुभावो** यथा –

चलत्शिताम्भोजनिभैर्वितस्तिरे
मधून् कटाक्षान् नयनैः समाञ्जितैः।
स्मितं च नूत्नोत्पलशोणिमाधरे
हरौ हि गोप्यः करवेणुधारिणि।। २ ।।

अत्र कटाक्षस्मितादयोऽनुभावाः।

केवलं **व्यभिचारी** यथा –

पथि प्रिये सोत्सुकमागते द्राग्
विवर्ति सम्भाषिणि निर्निमेषम्।
आलिङ्गिनि प्रारुणमुद्गतभ्रु
चक्षुर्नते वाष्पभृदापराद्धे।। ३ ।।

अत्रौत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपप्रसादानां व्यभिचारिणां स्थितिः।।

तत्र –

शृङ्गारहास्यकरुण रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च लोकोत्तररसाः स्मृताः।। ४।।

तेषु कामप्रधानत्वात् सर्वहृद्यः शृङ्गारः। तदनुगामी हास्यो निरपेक्षकभावत्वात्। तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततः करुणनिमित्तं अर्थप्रधानो रौद्रः। ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वात् धर्मप्रधानो वीरो भीताभयप्रदानसारत्वात्। ततो भयानकः। तद्विभावसाधारण्य-संभावनात् ततो बीभत्सः। वीरस्य फलमद्भुतः। दानदयायुद्धधर्मा-त्मकचतुर्विधानामुत्साहानामेव फलमद्भुतरसोऽस्ति। यथा

---

१ नोट – सर्वाणि लक्षणान्युदाहरणानि च मन्निर्मितानि। क्वचिदुदाहरण-दाढ्र्याय एकं द्वयं वापद्यमन्येषामस्ति। अतो यत्र ''ममैव'' नास्ति तदपि ''ममैव'' इति मन्तव्यम्।

दानयुद्धोत्साहयोर्निमित्तत्वात् वामनोपस्थितिः वामनदर्शनात्मविस्मयश्च फलम्। एते त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्माः। निवृत्तिधर्मस्तु शान्तः स च मोक्षफलः। निर्वेदस्थायिभावत्वे शान्तस्य नाट्याननुकूलत्वं शमस्थायिभावत्वे तु नाट्यकाव्ययोरुभयत्र शान्तरसस्यानुकूलत्वमेवेति बोध्यम्।

निर्वेदः शून्यचित्तत्वं वेदोवित्तविनिर्गमात्।।

वेदोऽहन्त्वम्। ज्ञानाद् अहंत्वनिर्गमः। ज्ञानपूर्वकं ममत्वनिवृत्तौ निर्वेदः स्थायी। वित्तविनिर्गमाद्जायमानं शून्यचित्तत्वं निर्वेदो व्यभिचारी। ज्ञानाद् जातो निर्वेदः कथाश्रवणादिनिमितं नापेक्षते। शमः निवृत्तबहिर्विषयोन्मुखेन्द्रियणामन्तर्मुखप्रसृतानां सम्बन्धान् मनसः शमः। अतः एतस्य कार्यं विषयारुचिः शत्रुमित्रौदासीन्यं चेष्टाहानिः नासाग्रदृष्टिश्चानुभावाः। अतएव शमसहचारित्वेन ते हर्षाद् उन्मादात् स्मृतेः मतेश्च क्रमशो जायन्ते। शून्यचित्तत्वे तु कदाचिदेतेऽनुभावा दुर्घटा इति। अतः एव मम्मटाचार्येण 'नाट्ये अष्टौ रसाः स्मृताः। पुनः 'निर्वेदस्थायिभावस्तु शान्तोऽपि नवमो रसः'। शान्तचित्तं निर्वेदस्योपायः शमोपायस्तु चित्तस्य शान्तये इति परम्परया रसप्रतीतौ नास्ति क्षतिः। तुना अपिना चायमेवाभिप्रायो बोद्धव्यः, अतः महाभारतस्य शान्ते पर्यवसानम्।

एतेषां **स्थायिभावास्तु** -

रतिर्हासश्चशोकश्च क्रोधोत्साहौ भयन्तथा।
जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।। ५।।

स्थायिभावस्यलक्षणम् -

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैः क्वाप्यतिरस्कृतः।
रसात्मना प्रधानेन स्थायी परिणतो मतः।। ६।।

विभावस्य लक्षणम् -

आलम्बनोद्दीपनत्वात्स्थायिसंचारिणां च यः।
कारणत्वेन विज्ञातः स विभावः प्रकीर्तितः।। ७।।

अनुभावसंचारिणोश्च लक्षणम् -

स्थायिसंचारिणां कार्यं हावभावस्मितादिकम्।
अनुभावस्तु संचारी स्थायिसहचारतो मतः।। ८।।

तत्र **शृङ्गारस्य लक्षणम्** -

विभावः स्त्रीपुंसमाल्यादिरौग्र्यालस्यजुगुप्सया।
वर्जिताश्चारिणः, स्थायी रतिः शृङ्गार उच्यते।। ९।।
सम्भोगविप्रलम्भाभ्यामनन्तोऽपि द्विधा मतः।

स्त्रीपुंसावालम्बनविभावः। तयोश्चोपयोगिनो माल्यर्तुशैल-हर्म्यनदीचन्द्रपवनोद्यानवसन्तादय उद्दीपनविभावाः, उग्रतालास्य-जुगुप्सावर्जिता व्यभिचारिणः विषयग्रामसमग्रयोर्यूनोः प्रारम्भादि-फलपर्यन्तव्यापिनी क्वाप्यतिरस्कृता रतिश्च संभूय चर्वणागोचरं गता शृङ्गाररसो भवति। यथोक्तम् - 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः' इति। तैरित्यनेनैव पूर्वोक्त- विभावादीनां ग्रहणं सुलभं, विभावाद्यैरिति कथनस्य पुनरुक्तिवारणाय, आद्यपदेन विभावानुभावव्यभिचारिव्यञ्जनास्थायीति समेषां पानक-रसन्यायेन सम्भूय चर्वणागोचरत्वं विहितम्। एतेषु स्थायिनः प्राधा- न्यात्, अप्रधाने तृतीया प्रधाने च प्रथमान्तो बोध्यः। अयं च सम्भोग–विप्रलम्भाभ्यां द्विधा। गोत्वस्य शुक्लश्यामलयोरिवास्य भेदौ। यथा अङ्गिन एकदेशेप्युपचारात् अङ्गिव्यपदेशस्तथैव शृङ्गारस्यैक-देशसम्भोगेन सह सामानाधिकरण्यात् सम्भोगशृङ्गार इति विप्रलम्भशृङ्गार इति बोद्धव्यम्।। विप्रलम्भस्तु न कामिनोर्वैयधिकरण्यं एकाधिकरणेऽपि ईर्ष्याकोपादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव युक्तवात्। एवमेव तयोः सामाना–धिकरण्यमेव न सम्भोगः, विप्रलम्भस्यानुपदमेवात्र दर्शितवात्।

उदाहरणं यथा **सम्भोगशृङ्गारः**-

चिरकालादनिशं मनोरथशतैराचिन्त्यमानं प्रियं,
दूरादागतमावृतं गुरुजनैः क्षेमादिमादित्सुभिः।
कान्तादर्शनसोत्सुकाक्षिवलनं स्वान्तर्निशान्ताद्बहिः
द्वाःपक्षान्तरिता मिषेण दयितं दृक्प्रान्ततो वीक्षते।। १०।।

अत्र नायक आलम्बनं निरन्तरमाचिन्त्यमानप्रियान्तिक-

गृहागमनश्रवणमुद्दीपनं व्याजाद्द्वारमागत्य त्रपापारवश्यात्कटाक्षेणावलोकनमनुभावः, रतिश्च स्थायीति सम्भूय शृङ्गारो रसः। व्यधिकरणेऽपि यूनोः सम्भोगशृङ्गारः।

विप्रलम्भशृङ्गारो यथा -

प्रस्थानाय सुमङ्गलाभिरमलोद्गीतैर्लसन्मङ्गलं,
विप्रैश्चन्दनचर्चितालिकमलं प्राणप्रियं स्वान्तिके
दृष्ट्वा त्यक्तधृतिर्विकम्पिततनुर्लोलालकैरश्रुभि-
श्च्योतद्धस्त- विभूषणाऽपनिमिषा कान्तापयातस्मृतिः।। ११।।

अत्र प्रवत्स्यन्नायक आलम्बनं, कम्पाश्रुपातादिरनुभावः विषादचिन्तावेगादयो व्यभिचारिणः रतिश्च स्थायीति विप्रलम्भशृङ्गारः स्वान्तिकस्थेऽपि प्रिये विप्रलम्भ इति।

विप्रलम्भोऽयं पञ्चधा अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति मम्मटः। एकविध एवेति पण्डितराजः, तेषु भेदेषु न किञ्चिद् वैलक्ष्यण्यम्। त्रिविध इति हेमचन्द्रः। अभिलाषमानप्रवासभेदात्। तत्र प्रवासाभिलाषयोर्द्विविधत्वात् चतुर्विधत्वम् मानेन सह पञ्चविधत्वं विप्रलम्भस्योदाहरणेषु दर्शितम्।

अन्योन्यप्राप्तीच्छाभिलाषः, एकतरस्याननुरागाद् दैवप्रतिबन्धाद्वा विरहः, इर्ष्या मानः, प्रवासोऽनुरक्तयोरपि दूरदेशस्थितिः, मुनिदेवादिकृतासंयोगघटकवाग्विशेषः शापः। विप्रलम्भकरुणभेदयोस्तु अच्छिन्नसंभोगमनोरथत्वं विप्रलम्भत्वं, आलम्बनात्यन्ताभावे निराशत्वं करुणत्वमिति बोद्धव्यम्।

तत्राभिलाषो यथा -

पुष्पोच्चयानेहसि जानकीभवा
उद्गाढरागा मधुरा स्वभावतः।
सौमित्र ! चेष्टा मयि या अगोचरा-
स्तास्वानिखातं सरतीव मे मनः।। १२।।

अत्र सीतालम्बनम्। तच्चेष्टानुस्मरणमुद्दीपनम्। तादृशोक्तिरनुभावः। रतिःस्थायीति परिणयात्पूर्वकालिकत्वादभिलाषः।

विरहो यथा -

अद्याबद्धवचाः प्रियो गृहमितः कस्मान्न, किं सौहृदै
रुद्धः क्वाप्यथवाऽन्यकार्यविवशो, नान्यत्, न यत् मत्प्रियम्।
इत्याशाशतकल्पनाचितहृदा श्वासैर्निपीताधरा
कान्ता पार्श्वविवर्तनैर्विनयते रात्रिं निशान्तस्थिता।।१३।।

अत्रानागतप्रिय आलम्बनम् अनागमनादिरुद्दीपनम् विवर्तनादिरनुभावो, वितर्कदैन्यादिव्यभिचारिभावो रतिः स्थायीति विरहविप्रलम्भः।

आयातुं कृतचित्तोऽपि दैनान्नायाति यत्प्रियः।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता मता।।

प्रवासे तु आगमननिश्चयाभावादनयो र्भेदो वोद्धव्यः।

ईर्ष्या यथा -

अधरयोर्मुरली शितिकण्ठिनः,
शिरसि चित्रशिखाऽञ्जनरेचिता।
स्पृश न कामिषु लम्पट ! मां हरे !
नयनयोश्च तनुभ्रुकुटीलता।।१४।।

अत्र हरिरालम्बनम्। मुग्धाया गोप्या मुरल्यादिष्वासक्त-हरेरपराधबोध उद्दीपनम्, तादृशोक्तिरनुभावः, असूयादिर्व्यभिचारी रतिः स्थायीति ईर्ष्याविप्रलम्भः। इर्ष्या केवल स्त्रियो मानः। उभयोर्मानोऽपि विप्रलम्भे परिगणनीयः, सामानाधिकरण्ये यो विप्रलम्भोदयः तस्यैवैकदेशात्। यथा - **उभयोर्मानः** -

कुपितयोः प्रणयैः स्थगिताङ्गयो
रनृतमीलितलोचनसुप्तयोः।
ध्वनिलवाय मनोऽर्पितकर्णयो
स्तरुणयो र्विजयाय सुमल्लता।।१५।।

प्रवासो यथा -

प्रियतमे गतवत्यतिदूरत-
स्तदुपभुक्तलताऽवनिशायिकाः।

सगुरुगद्गदया वचसोत्कया
विपरिरभ्य जडा अपि रोदिता:।। १६।।

अत्र प्रियतम आलम्बनम्। प्रियस्यातिदूरगमनमुद्दीपनम् तथा च लताद्यालिङ्गनमनुभाव:, आवेगचिन्तादयो व्यभिचारिण:, रति: स्थायीति प्रवासविप्रलम्भ:।

हास्यम्-

विकृताङ्गवचोवेषा विभावा, दृष्टिगण्डयो:।
अनुभावा विकासाद्या, भावा निद्रात्रपादय:।। १७।।
आत्मस्थ: परसंस्थश्च द्वेधा हास्यं त्र्यवस्थकम्।
दृष्टेषद्दृष्टदन्तत्वाद् हसितस्मित उत्तमे।। १८।।
विहसितोपहसिते मध्यमे, मधुरध्वनी।
जिह्मदृष्ट्यंसके नीचेऽपहसितातिहासिते।। १९।।
साश्रु-स्थूलकटुध्वाने गदितानि बुधैर्जने।

दृष्टिगण्डयो: विकासाद्येन नासौष्ठकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादयो गृह्यन्ते। दृष्टदन्तं हसितं इषद्दृष्टदन्तं स्मितम्, इति स्मितहसिते उत्तमे भवत:। मधुरध्वनि र्विहसितं जिह्मदृष्टिस्कन्धकं उपहसितम्। साश्रु अपहसितम्, स्थूलकटुध्वानमतिहसितम् इति बोध्यम्। इत्थं षोढा हास्यम्। स्मितविहसितापहसितभेदैस्त्रिधा हास्यमिति हेमचन्द्राचार्य:। उक्तञ्च- उत्तममध्यमाधमेषु स्मितविहसितापहसितै: स आत्मस्थस्त्रेधा इति। यद्भरत: -

इषद्विकसितैर्गण्डै: कटाक्षै: सौष्ठवान्वितै:।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत्।।
आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत्स्वनं मधुरं तथा।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत्।।
अस्थानहसितं यत्तु साश्रुनेत्रं तथैव च।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत्।।

उदाहरणम्- काषायम्बरमाशुमुण्डितशिर:कूर्च स्त्रियालिङ्गित
मव्यक्ताक्षरमन्त्रजापनिरतं संन्यासलिङ्गाश्रितम्।

मास्प्राक्षीरिति बोधयन्तमशुचेर्भीतेर्जनान्, बालक
स्पर्शाशौचमवेत्य तांररुदनं दृष्ट्वा जनो लोठति।। २०।।

करुणो यथा –

शोकस्थायी विभावेष्टनाशादि दुःखभावकः।
प्रलयस्तम्भाश्रुपातानुभावः करुणो रसः।। २१।।

दुःखभावक इति निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यमोहश्रमत्रासविषाददैन्य व्याधिजडतोन्मादापस्मारालस्यमरणप्रभृति दुःखमयत्वात् दुःखम्। प्रलयस्तम्भाश्रुपातदैवोपालम्भनिःश्वासतानवमुखशोषणस्वरभेदवैवर्ण्य कम्पभूलुण्ठनगात्रस्त्रंसनाक्रंदाद्यनुभावकः, शेकस्थायी करुणो रसः। यथा–

हा सुत! हा प्रिय! हा कुरुपाण्डववंशकरीर! शिशो! अभिमन्यो!
त्यक्तविमुग्धप्रियोत्तर! गन्तुमनाः स्वर्लोकमपास्य कथं नः।। २२।।

इयं वृद्धपुरस्त्रीणामुक्तिः। अत्र प्रमीताभिमन्युरालम्बनम्। तत्कालदृष्टोत्तराद्युद्दीपनम्। रोदनादिरनुभावः, दैन्यादिर्व्यभिचारी शोकः स्थायीति करुणो रसः।

रौद्रः –

क्रोधस्थाय्यपराधादिविभाव औग्र्यभावकः।
रौद्रो नेत्राद्यरुणताताडनाद्यनुभावकः।। २३।।

रौद्रस्य क्रोधः स्थायी, दारापहारदेशजात्यभिजनविद्याकर्मनिन्दा-सत्यवचनादिरपराधो विभावः। औग्र्यवेगोत्साहविबोधामर्षचापलादि-र्व्यभिचारी, नेत्रारुण्यभ्रुकुटीकरणदन्तौष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्र-निष्पेषादयः अनुभावाः। यथा ममैव –

रे रे क्षत्रियपोतकाशु विसरद्दीप्रोग्रधाराधरैः
कृत्तख्यातसुबाहुजार्जुनशिरोदोर्भिः परश्वायुधैः।
सर्वैः प्राप्तस्वयंवरैः सजनकैस्त्वां खण्डयित्वाऽचिरं
पश्यद्भिर्गुरुकार्मुकं दितिमितं नेष्यामि कार्तान्तकम्।। २४।।

वीरः –विभावितोद्यमामोहोऽनुभावस्थैर्यधीरतः।
स्थाय्युत्साहस्त्रिधा वीरः सञ्चार्यौग्र्यधृतिस्मृतिः।। २५।।

नयविनयासंम्मोहाध्यवसायशक्तिप्रतापप्रभावादिर्विभावः स्थैर्य-धैर्यगाम्भीर्यत्यागादिरनुभावः औग्र्यधृतिस्मृतिगर्वामर्षमत्यावेग-हर्षादिर्व्यभिचारी उत्साहःस्थायीति, वीरो युद्धदानधर्मभेदात् त्रिधा भवति।

तत्र **युद्धवीरो** यथा -

आलोक्याकालगर्जत्प्रलयघनघटाटोपविद्युत्सहस्रो
द्दीप्ताभास्त्रायुधानां समदनिशिचरत्रिशिरोदूषणानां।
'कान्तां मत्सात्कृत्वा व्रज सपदि गुहां, गर्जतां घोरसेनां,
दृष्ट्वा मन्दस्मितः सन् धनुषिविशिखयन् राघवो ज्यां पफाल।।२६।।

इह प्रतिनायकखरदूषणोग्रसेना विभावः, तासां प्रतापाधिक्षेपादय उद्दीपनविभावः, मन्दस्मित इत्यादिना व्यक्तगाम्भीर्यधैर्यस्थैर्या-दयोऽनुभावाः गर्वहर्षादिर्व्यभिचारीति युद्धवीर उत्साहस्य प्रधानतया चर्वणागोचरीभूतत्वात्।

दानवीरो यथा -

जहि मनसस्तापं शक्र ! वाञ्छन् ममास्थि
किमधिकमल्पं नो दानशैण्डे विवेकः।
स्रवदनलंपयसा स्वर्गवा दानधुर्या
दलितवपुश्चर्माऽऽवेदयामीदमाशु।। २७।।

अत्र महेन्द्राय वज्रायुधकामाय अस्थिदानोद्यतस्य दधीचे-र्महर्षेरुक्तिः। अत्र याचमान आलम्बनम्। दानधुर्याणां स्वर्गवादीनां दानादिप्रताप उद्दीपनम्। स्थैर्यधैर्यादयोऽनुभावाः। धृतिस्मृत्यादयो व्यभिचारी अतो दानवीरोऽयम्। अविरलाधिकपयोमनोरथादिपूरकतया दानिषु श्रेष्ठतामधिगता कामगवी स्वयमेवात्रागत्य स्वजिह्वालेढनेन मदीयं चर्म देहाद् विदलतु एतेन तया सह स्पर्धाऽपि व्यज्यते, यया गर्वोऽपि। अतो न शान्तरसेषु निवेशः।

धर्मवीरो यथा -

राज्यं स्वप्ने विप्रवर्याय दत्तं,
यस्मै सोऽयं मद्गृहं सङ्गतोऽस्ति।

भूयान्मह्यं वज्रपातो न वाक्याद्
वैमुख्यं मे क्षात्रधर्मादमात्य।। २८।।

स्वप्ने कस्मैचिद् विप्राय राज्यप्रदानमाश्रुतवति प्रातरुपस्थित-तद्ब्राह्मणाय राज्यं प्रदातुमुत्सुके राज्ञि दृष्टे, तन्निषेद्धुमुद्यतममात्यं प्रति राज्ञो हरिश्चन्द्रस्योक्तिः।

अत्रोत्स्वप्नायितवचसोऽप्यस्खलनं सत्यवादिनां धर्मः इति धर्मविषय आलम्बनम्। 'न जातु कामान्न भयान्न लोभात् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः इत्याद्यालोचनमुद्दीपनम्। वज्रपाताद्य-ङ्गीकारोऽनुभावः। धृतिः संचारी इत्युत्साहस्थायिको धर्मवीरः।

यत्तु पण्डितराजेन दयावीरोऽपि गणितः सोऽपि धर्मान्तिरगतत्वात् धर्मवीरेष्वेवान्तर्भावः। अन्यथा क्षमासत्यपाण्डित्यादीनामपि वीरभेदेषु पृथक्तयाग्रहणं कर्तव्यं स्यात्। अतः जिनमुनेरुक्तौ। यथा-
सिंहि! त्वेवं न स्पृहा पोतकेषु, स्वल्पं जायाद् भीतभीतेषु, तुभ्यम्।
क्षुत्शान्त्यर्थं देहमद्यार्पयामि श्रुत्वा सैतद् रोमहर्षाबभूव।।

इति बौद्धधर्मानुकूलमाचरतो मुनेर्दयया सिंह्यास्तच्छिशोरक्षणाय स्वकीयं नश्वरं वपुर्दातुमुद्योगः।

अतोऽत्र पोतकं विभावः, पोतकगतव्याकुलीभाव उद्दीपनम्। स्ववपुषोऽर्पणमनुभावः धृत्यादिसंचारीति दयावीरो नातिरिक्तो धर्मवीरात्। एवमेव शिवेः परिज्ञातनश्वरदेहस्य कपोतार्थं परित्यागो धर्म एव। अन्यथा शान्तेष्वन्र्तभावः सुतरां सिद्धः।

भयानकः -

विभावपरमानर्थो विकम्पाद्यनुभावकः।
भयानकः भयस्थायी शङ्कापस्मारभावकः।। २९।।

परमानर्थविषयकपिशाचादिविकृतस्वरश्रवण-तदवलोकन-स्वजन-बधबन्धादिदर्शनश्रवण-शून्यगृहारण्यव्याघ्रादिर्विभावः, विकम्पशुष्कौष्ठ-कण्ठत्ववैवर्ण्यस्वरभेदाद्यनुभावः शङ्कापस्मारमरणत्रासचापलावेग-दैन्यमोहादिर्व्यभिचारी भयं स्थायीति चर्वणाविषयत्वमागतं भयानको रसः। यथा -

सिंहोत्पातं वीक्ष्य वन्यो मृगोऽग्रे
व्यावृत्तास्यो द्वैगुणास्फालनेन।
खं मापयतुं पिण्डिताग्रश्चुकूर्द
भ्रश्यद्ग्रासो व्याकुलश्चार्त्तनेत्रः।। ३०।।

बीभत्सः -

बीभत्सः स्थायिजौगुप्सोऽहृद्यदर्शविभावितः।
अनुभावाक्षिसङ्कोचो मोहोपस्कारभावितः।। ३१।।

अहृद्यानामुद्वान्तव्रणपूतिकीटादीनां दर्शनश्रवणादिर्विभावः अक्षिमुखाङ्गनासाविकूणननिष्ठीवनादिरनुभावः मोहोऽपस्मारादिर्भावः जुगुप्सा स्थायीति बीभत्सो रसः। यथा -

गाण्डीवादीरितेषोर्विदलितवपुषां युध्यतां शात्रवाणां,
मांसस्पृक्शोणितान्त्राण्यतिविकृतमुखोदग्रदद्भिर्विकर्षन्।
वेतालो योषिताऽङ्गं मुखमलिकमलं लेपयन् लिम्पन्नाग्रे
नृत्यन्माद्यन् वसाभिश्चिरपिशितभवत्पूतिपूयेष्वलुण्ठत्।। ३२।।

इह विदलितवपुःशव आलम्बनं मांसस्पृक्शोणितान्त्रविकर्षणमुद्दीपनम् आक्षिप्ताक्षिमुखविकूणनादिरनुभावः आवेगादयो व्यभिचारी जुगुप्सा स्थायीति बीभत्सो रसः। यद्यपि बीभत्से हासे च आश्रयविभावो न संप्रतीयते तथापि द्रष्टृपुरुषविशेषस्याक्षेपादाश्रयविभावस्य लाभ इति मन्तव्यम्।

अद्भुतः -

अद्भुतो विस्मयस्थायी दिव्येक्षणविभावितः।
दृग्विकासानुभावश्च सञ्चार्यावेगहर्षकः।। ३३।।

दिव्येक्षणमनोरथावाप्तिप्रभृतिविभावो दृगविकासनिमेषप्रेक्षणादिरनुभाव आवेगहर्षादिर्भावो विस्मयः स्थायीति अद्भुतः। यथा -

चित्रं महानेष परप्रकाशो निम्नोन्मुखः वह्निरविप्रभिन्नः।
मद्वासप्रापीति विवृत्तनेत्रास्याब्जा नभोऽयन्मुनिना हि भामा।। ३४।।

इयं भामाया उक्तिः। अत्र नारदत्वेनाज्ञातः परप्रकाशः विभावः। निजोन्मुखत्वं परप्रकाशस्योद्दीपनम् विवृत्तनेत्रास्यत्वमनुभावः, त्रासादयो

व्यभिचारी विस्मयः स्थायीति अद्‌भुतो रसः। नात्र नारदे रतिः प्रतीयते तस्याज्ञातत्वात्। न च स रत्यभिभव्यञ्जकं किमपि पदमत्रोपात्तम्। अतोऽद्‌भुतः।

एवमेव चित्रं महानेष वतावतार .... इत्यत्रापि।

यावद्‌भगवत्त्वेन न ज्ञातो वामनस्तावदेवाद्‌भुतः। ज्ञाते सति तत्र जायमानायां रतावपि न दोषः। तथैव चराचरजगज्जालं ...... इति पण्डितराजपद्येऽपि तत्रापि पश्चात् लब्धस्मृतेः यशोदयाः पुत्रत्वेन कृष्णे ज्ञातेऽपि नाद्‌भुतस्य व्याघातः।

शान्तः–

निर्वेदस्थायिकः शान्तः तत्वज्ञानविभावितः।
अनुभावाध्यात्मयमः, धृत्यादिव्यभिचारिकः।। ३५।।

यथा–

सुवर्णमृत्पिण्डविभेदशून्यः समानशीतोष्णसुखव्यलीकः।
श्वपाकजल्पाकनिरन्तरस्थः समाधिलग्नोऽस्त्यपरोक्षतत्वः।। ३६।।

जगत्प्रपञ्चस्यानित्यत्वेन तत्त्वज्ञानं विभावः। सुवर्णमृत्पिण्डादिषु सर्वत्र साम्यमनुभावः, धृत्यादि व्यभिचारी निर्वेदः स्थायीति शान्तो रसः। श्वपकजल्पाकयोरभ्यर्हितानभ्यर्हितत्वादिबोधवैकल्यात्पूर्व परनिपातोऽपि गुण एव।

शान्ते विषयनिवृत्तेरावश्यकतया विषयजुगुप्साऽपि किञ्चित्-प्रतीयते किन्तु बीभत्से प्रधानीभूतजुगुप्से नास्यान्तर्भावः कथमपि। व्यभिचारित्वेन साऽप्यत्र प्रतीयतां नाम। एवमेव धर्मवीरेऽपि नास्यान्तर्भावः, तत्राहंकारत्वस्य जागरूकत्वात्, अत्र सर्वतोभावेना-हंकारविगम इति भेदोऽवगन्तव्यः। इत्थं निरूपिता नव रसाः।

रसविरोधपरिहारः

एतेषामपि कैश्चित् सहाविरोधः कैश्चित्सहविरोधो भवति। यद्यपि चिदात्मनः पूर्णोपचितावस्थस्य रसस्य परस्परं विरोधो न घटते तथापि तदुपाधिस्थायिभावमादाय रसविरोधो विद्वद्‌भिः स्वीकृतः।

तत्राविरोधस्तु वीरशृङ्गारयोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, शृङ्गारहास्ययोः शृङ्गाराद्भुतयोश्चास्ति।

विरोधस्तु वीरभयानकयोः शृङ्गारबीभत्सयोः शृङ्गारकरुणयोः शान्तशृङ्गारयोः शान्तरौद्रयोश्चास्ति। विरुद्धरसाङ्गानां निबन्धने तदभिव्यक्तौ विरुद्धयो रसयोरेकत्र समावेशाय विरोधः परिहरणीयः। स च विरोधो द्विविधः एकाश्रयत्वे विरोधः, नैरन्तर्येण च विरोधः। तत्राद्यस्तावद्भिन्नाश्रयत्वात् निवर्तते। द्वितीयस्तूदासीनरसान्तर्निवेशेन, विरोध्यङ्गस्य स्मर्यमाणत्वेन, विशेषणबलात् साम्यावस्था विवक्षितत्वेन, अङ्गत्वेन, तथा च कस्मिंश्चिदन्यप्रधाने द्वयोर्विरोधिनोरङ्गत्वेन च निवर्तते। यथेमे कारिके -

एकाश्रयस्थितौ येषां नैरन्तर्ये विरोधिता।
आश्रयभेदादुदासीनरसान्तरतो निवार्यते।। ३७।।
अवस्थास्मर्यमाणत्वात् साम्येनाथ विवक्षया।
अङ्गाङ्गित्वात्तथान्यस्मिन्नङ्गत्वाद् वा विरोधिनोः।। ३८।।

तत्र **वीरभयानकयोर्भिन्नाश्रयत्वे विरोधपरिहारो** यथा -

वैराटीगा मुष्यतां कौरवाणां भीष्मारूढज्याध्वनिं कर्णवेधम्।
श्रुत्वा हस्तात् संस्खलत्कार्मुकास्त्रोभीत्याद्रावीदुत्तरः स्वाद्रथाग्रात्।३९

नैरन्तर्ये विरोधपरिहारो यथा -

ध्यायन् विद्यां मीलिताक्षो सुदर्शो
दृष्टवाऽपूर्वां काशिराजस्य कन्याम्।
धन्यं रूपं वागहो मृद्वीकाभा
सृष्टिर्नूत्ना मानसी वेत्यबोधि।। ४०।।

अत्र विद्यां ध्यायतः सुदर्शस्य शान्तशृङ्गारयोर्मध्ये "अहो" इत्यादिना रूपादिषु विस्मयो निविष्टः। अत उदासीनस्याद्भुतस्यान्तर्निवेशेन शान्तशृङ्गारयोर्विरोधः परिहृतः। अथवा -

विदारयन् शत्रुबलानि वीरो विमानगः पश्यति साप्सरोऽङ्कः।
रक्तोक्षितं फेरुविदारितान्त्रं वपुर्वसोन्मादितप्रेतरङ्कम्।। ४१।।

अत्र शृङ्गारबीभत्सयोर्मध्ये वीरस्य सन्निवेशः। वीरशृङ्गारबीभत्सानां

क्रमेण सामग्री सत्वेऽपि, वीरगतिमवाप्तस्य विमानगत्वेन प्रतीतो वीररस उभयोर्मध्ये चर्वणाविषयः।

विरोधिनः स्मर्यमाणत्वेन विरोधपरिहारो यथा –

स्निह्यल्लोलकटाक्षलोचनसुमस्त्रग्भिश्च यो मोदितः,
उद्यत्तत्पुलकाङ्गरोमनिकरैः सोत्कं समालिङ्गितः।
मृद्वीकाभवचोऽमृतातुलरसै नैरन्तरस्नापितः,
तस्मै हा वचसो लवं न दयसे कस्मात् प्रिये पृच्छते।। ४२।।

अत्र पुरः निपतितां मृतां प्रियां प्रति नायकस्योक्तिः। इह नायिकालम्बना अश्रुपातादिभिरनुभाविता हर्षादिभिर्भाविता स्मर्यमाणा प्राक्कालिकी रतिः, शोकोत्कर्षकत्वादङ्गम्।

साम्यविवक्षया यथा –

यौवनोन्मादविभ्रान्ता गाढश्लिष्टा रुषाऽरयः।
वीर्याहरणसोत्साहां धरामालिङ्ग्य शेरते।। ४३।।

इत्यत्र समासोक्तौ विशेषणमाहात्म्यात् साम्यविवक्षया शृङ्गारकरुणयोर्विरोधो निवर्तते।।

अङ्गाङ्गित्वम् यथा –

अर्धोन्मीलितवक्रिमाङ्कनयनैरापुङ्खखातान्तरं
गाढं शर्म शमं च याति वशितं चित्तं, तदभ्यासतः।
रामान्तःस्फुरणादवाप्य विमलं वेदान्तबोध्यं गुरु
ज्ञानं मोदयते विविक्तवसनस्तुलसीष्टवातात्मजः।। ४४।

अत्र चित्तवशीकरणस्याद्योपायः प्रियतमानुरागः। तेन मनसः स्थैर्याभ्यासात् समाधिसाधकत्वमपीति रतेः शान्तस्याङ्गत्वम्, अतो न विरोधः।

प्रधानेऽन्यस्मिन्नङ्गयोर्विरोधपरिहारो यथा –

त्यक्ताहारा अहोभिः कुशरचितकटानल्परुक्षासनस्था,
अस्वापाद्वीतरात्रिर्मुकुलितनयना प्रेयसोत्तम्भितान्ताः।
शुष्यद्गात्रा रजोभिश्चितवसनकचा पाण्डुकान्ती रिपुस्त्री
योगाभ्यासाश्रितान्तर्विजनवनगुहा योगिनीवास्यतीहाम्।। ४५।।

अत्र विप्रलम्भशान्तयो राजविषयकरतिभावस्याङ्गत्वमिति विरोधिनोर्विरोधपरिहार:।

रसविरोधपरिहार इव व्यवहारानौचित्यपरिहारोऽपि रसेषु नितरामावश्यक:।

अनौचित्यं तु –

सिंहापेक्षया धेनो: शौर्यं, स्वर्गे जरादय:,
शिशिरे सलिलक्रीडा सदारा ब्रह्मचारिता।। ४६।।
यतेस्ताम्बूलमुखता वृद्धै: स्त्रीरणसेवनम्।
यूनोर्विरागिताढ्यानां दारिद्र्यं, बहुदानिता।
दरिद्रस्य, तथा धीरप्रशान्ते क्रोधकामिता।। ४७।।
धीरोदात्ते च निर्वेद: दैवते रतिवर्णनम्।
नरवत्, भस्मासात्क्रोधो दिव्येष्विवेतरेष्वपि।। ४८।।
तत्रभगवन्नित्यादे: प्रयोगो मुनिदेववत्।
चेद्राराजादौ, मुन्यादौ भट्टारपरमेशयो:।। ४९।।
यद्द्विजैर्मुनिगुर्वादौ सम्बुद्धिस्तन्न चाधमै:।
नृपतौ मुनिभिर्नैवं परमेश्वरबोधनम्।। ५०।।
केवलं त्वधमै: कार्यं, वैपरीत्ये त्वनौचिति:।। ५१।।
इत्थं जातिस्थानकालवर्णाश्रमवयोस्थिति।
धीराद्यवस्थाप्रकृतिव्याहारादेरनौचिती।। ५२।। इति।

तथा चोक्तम्-

अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। ५३।। इति।

क्वचिदनौचित्येनापि रसपोषश्चेत् अनौचित्यस्याप्यत्रौचित्येनैव-ग्रहणम्। यथा –

वाण ! प्रेतपतेर्हरस्य समयो भक्तेर्न चायं बहि-
स्तूष्णीं तिष्ठ, बले ! सदा जडमते ! नान्त:प्रवेशस्तव।
वीणां संहर भारति ! स्तुतिकथालापैरलं वन्दिन:
देवेन्द्रा: ! वसुदेवपुत्रमृतये देवोऽस्ति चिन्तापर:।। ५४।।

कंसादिदौवारिकस्योक्तिः। परमैश्वर्यभक्तिसम्पन्नानां वाणादीनां भारत्यादीनां चाधिक्षेपः कंसादिक्रूरहृदयदौवारिकादिना न दोषावहः।

भावः

कोयं भावः, यस्तु सूत्रे निर्दिष्टः। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति सूत्रबलादेव, विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वं भावत्वमिति लक्षणञ्चेत् रसाभिव्यञ्जकवाक्यवर्णादावतिव्याप्तिः। तस्यापि रसाभिव्यञ्जकत्वात्। वाक्यादे र्विभावादिद्वारेणैव रसाभिञ्जकत्वं, भावस्य न तथेति द्वारनिरपेक्षत्वविशेषणेनापि न निस्तारः। भावस्यापि भावनाद्वारैव रसनिष्पादकत्वम्। चेद्, हठात् भावस्य द्वारान्तरनिरपेक्षत्वमेव स्वीक्रियेत तदानीं भावनाया अपि द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन रसाभिव्यञ्जकत्वेन च तस्यामतिव्याप्तिरस्त्येव।

इत्थं विभावानुभावभिन्नत्वे सति शब्दभिन्नत्वे सति भावनाभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वम् भावत्वमित्युक्तावपि न निस्तारः। प्रधानतया व्यज्यमाने भावध्वनौ व्यञ्जकत्वाभावाद् अव्याप्तिः। भावध्वनावपि पर्यन्ते रसाभिव्यक्तिरिति न वक्तुं युज्यते, रसस्यैव प्राधान्यापत्तेः रसध्वनित्वेनैव व्यपदेशप्रसङ्गात्। प्रान्ते रसाभिव्यञ्जकत्वस्य कथञ्चित् स्वीकारेऽपि न निस्तारः। पद्यवाक्यार्थस्यापि रसाभिव्यञ्जकत्वात्। तस्यापि वारणाय रसाभिव्यञ्जकचर्वणविषयचित्तवृत्तित्वं भावत्वमित्यपि न वक्तुं शक्यम्। अनुभावेऽतिव्याप्तिप्रसङ्गात्। यथा-

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद् विजानती नितराम्।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुते।। ५५।।

इत्यत्र हालहलसदृशत्वप्रकारकज्ञानस्य चित्तवृत्तित्वात्। अतः, अत्रोच्यते -

सर्वथा व्यज्यमानत्वे सति उदयस्थित्यपायत्रितयधर्मकत्वं भावत्वम्। विभावानुभावयोरभिधेयत्वमपि, तथा च भावस्य क्वचिद्

जाते विभावादित्वे व्यज्यमानत्वमपीति उभयात्मकत्वान्न तत्रातिव्याप्तिः, उक्तञ्च पण्डितराजेन- ''संचारिभावेषु मध्ये केचन केषाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति। तथा हि इर्ष्याया निर्वेदं प्रतिविभावत्वं असूयां प्रति चानुभावत्वम्, चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वं औत्सुक्यं प्रति चानुभावतेत्यादि स्वयमूह्यम्'' इति वाक्ये, भावनायां वाक्यार्थे चापि नातिव्याप्तिः। तेषामपि शब्दार्थ व्यापाररूपत्वात् सर्वथाव्यज्यमानत्वाभावात्। भावस्योदयधर्मकत्वेन रसाभिव्यञ्जकभावभावोदययोः, स्थितिधर्मकत्वेन ध्वनिसन्धिशबलतानां तथा चापायधर्मकत्वेन भावप्रशमस्य, ग्रहणात् सर्वत्र लक्षणव्याप्तिः।

पण्डितराजेन यदुक्तं ''हर्षाद्यन्यतमत्वं भावत्वमिति, तन्न युक्तम्, यतो हि त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणां सहपरिगणितानामेव भावत्वेन ग्रहणं कर्तुं शक्यते। किन्तु तत्र तेनैवोक्तस्य स्थायिनो यदापरस्थाय्यङ्गत्वेन निवेशस्तदानीमङ्गत्वेन निवेशितस्य स्थायिभेदेषु गणितस्यापि तस्य भावत्व कथं स्यादिति विचारणीयम्। तथा च देवादिविषयकरतेरपि भावत्वं न स्यात्। अत उत्साहप्रधाने क्रोधस्य शृङ्गारप्रधाने हास्यस्याङ्गत्वाद् भावत्वं मन्यते। उक्तं च मम्मटेन-

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।

भावः प्रोक्तः -

आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया। कान्ता विषया तु व्यक्ता शृङ्गार एव।

रतिर्देवादिविषयेति ....। ननु कथं रतिरेव निर्दिष्टस्वकान्ताविभावातिरिक्तदेवादिविभावविषयत्वेनाभिव्यक्ता भावः, अपितु हासादयोऽष्टौ तदतिरिक्ताः स्थायिनोऽपि निर्दिष्टोचितस्व-विभावेतरविभावविषयत्वेनाभिव्यक्ता भावत्वमवगाहन्ते? इति पृच्छायां टीकाकृदादिविद्वत्सु वैमत्यम् दृश्यते । तेषु स्वस्वविहितविभावेतर-विभावविषयत्वेन तेषामपि भावत्वमित्येके नेत्यपरे। तत्र प्रथमे-रतिपदेन स्थायिमात्रमुपलक्ष्यते। एषां मते अपुष्टा कान्ता विषया तथा च पुष्टा देवादिविषया रतिः अपुष्टा हासादयस्तथा च

व्यञ्जितास्त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावत्वमवगाहन्ते। यथा -

"रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद्देवादिविषयोऽथवा।
अन्याङ्गभावभाग्वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक्"।। इति।

अपरे रसगङ्गाधरकारादयः- किं भावत्वमित्युपक्रम्य-द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन रसव्यञ्जकत्वं भावत्वं विकल्पयन् विभावानुभावरसवाक्येष्वतिप्रसक्तिं निदर्श्य प्रधानध्वन्यमानभावे अव्याप्तिमदर्शयत्। रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वेऽपि न निर्वाहः, अनुभावादीनामपि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्। अतः विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वम् भावत्वम् इति भावलक्षणं दर्शितम्। हर्षादयस्तु त्रयस्त्रिंशत् प्रसिद्धव्यभिचारिणः। गुरुपुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत् एतेन वात्सल्याद्यं पुत्राद्यालम्बनं रसान्तरमिति परास्तम्। उच्छृङ्खलताया मुनिवचनपराहतत्वात् इति।

इत्थमाद्यमते एकोनपञ्चाशद्भावाः, अष्टौ सात्विकाः, निर्वेदातिरिक्ताष्टौ स्थायिनः त्रयस्त्रिशद्व्यभिचारिणश्चेति। द्वितीयमते चतुस्त्रिंशदेवेति।

तत्र विभावानुभावाभ्यां सर्वथाभिव्यक्तस्यैव न कदाचिदपि विभावादिवद्वाच्यस्य भावस्य, व्यञ्जकत्वदशायामेकोनपञ्चाशद्भेदाः प्राधान्येनाभिव्यज्यमानत्वदशायां तु चतुस्त्रिंशदिति। भावेन भावाभिव्यङ्ग्यत्वस्यास्वीकारात्नान्तरीयकत्वेनाभिव्यज्यमानस्यापि भावस्य नाभिव्यञ्जकत्वं प्रधानीभूते भावे। अपि तु प्रधानभावाभिव्यञ्जकसामग्र्या एवेति।

वत्सादिषु सम्यगौचित्येन परिषुष्टायामपि रतौ न रसत्वमपि तु भावत्वम्, न तद्वद्हासादेरन्यत्रापुष्टत्वविकल्पनसम्भवः। अपुष्टत्वे स्वेतरपदार्थव्यज्जकत्वमात्ररूपत्वम्। अतः मम्मटः केवलं रतिमेवोपादत्ते नान्यस्थायिभावम्। अतो रतीतराणां स्थायिनां सात्विकानाञ्च न भावत्वमितिनिर्गलितार्थः।

उक्तञ्च ध्वन्यालोकलोचने- तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भाव-

ध्वनि:''। इति।

एतेन उद्रिक्तावस्थापन्नत्वे हर्षादिव्यभिचार्यन्यतमत्वे भावत्वम् ध्वनित्वम्। कथं च रतेरप्युद्रिक्तावस्थापन्नत्वे भावध्वनित्वम्?

उच्यते ध्वनावुद्रिक्तावस्थापन्नत्वं नियतम्। तत्र यथालोकशास्त्रं नायिकेतरसमुचितवत्सगुर्वादिविभावविषयतया समुद्रिक्तायां रत्यां भावध्वनित्वम् नायकविषयतया रसध्वनित्वम्, अनुचित गुरुपत्न्यादि-विभावविषयतया रसाभासत्वम्। हास्यादीनां समुचितनिर्दिष्ट-विभावेतरविभावस्यानुचितत्वात्तत्रोद्रिक्तत्वमनवाप्तत्वात् क्व भाव-ध्वनित्वम्। रसाभासे तु अनुचितविभावविषयत्वाद् रत्यादिरेव नास्ति अपितु रत्याद्याभास:, तथा च असतो रत्यादेश्चर्वणायां कथञ्चित् प्रतिभास्यमानत्वे क्व भावध्वनित्वम्, आभासध्वनित्वं तु घटत एव। वस्तुत: विभावानुभावाभासात् रत्याद्याभासोदय: न च तत्र रत्यादय: वस्तुत सन्ति। उक्तञ्च

लोचने - ''यदा तु विभावानुभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभावाभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषय:। अत: रतीतरहास्यादीनां भावध्वनित्वं न घटते।

कथं तर्हि एकोनपञ्चाशद्भावा:? उच्यते- भावस्तु उदयस्थित्य-पायत्रिधर्मक:। यदाह विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिण: इति। तेषूदयधर्मक: सूत्रोपात्तरसाभिव्यञ्जको व्यभिचारी। यथा -

यांते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया,
निर्यातं परिवर्त्तनं पुनरपि प्रारब्धमङ्गीकृतम्।
भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया
तन्वङ्ग्या न तु पारित: स्तनभर: क्रष्टुं प्रियस्योरस:।।

अत्र प्रणयकोपस्यैवोज्जिगमिषयैव यदवस्थानं न तु पारित इत्युदयावकाशनिराकरणादुदयधर्मक आस्वादजीवितुं कामिनीगत-प्रियविषयकरिंसानपायत्वात् सम्भोगशृङ्गारो ध्वनि:। अस्यैवभावस्यै-कोनपञ्चाशद्भेदा:।

स्थितिधर्मको भावध्वनि:। अयं चतुश्चत्वारिंशत्। अपाय-

धर्मकस्तु भावप्रशमध्वनि:। इत्यलमतिविस्तरेण। अतो रते: स्थाय्युपलक्षणत्वमस्वीकार्यम्।

इत्थं स्थितिधर्मकस्य भावस्याभिव्यक्ती रसन्यायेन यथा विभावानुभावव्यभिचारिव्यञ्जनस्थायिनां सम्मील्य रसनिष्पत्तौ स्थायिन: प्राधान्येनाभिव्यक्तिस्तथैव विभावानुभावस्थाय्यादिभि: प्राधान्येन भावस्यैवाभिव्यक्ति:।

उदयधर्मको भाव: व्यङ्ग्यान्तरन्यायेन। यथा याते गोत्रविपर्यये इति पद्ये शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया इति पदेन कोप: शमश्च समानसामग्र्यभिव्यक्त: पुनश्च गोत्रस्खलनादिना उदयदवस्थ-कोपस्याभिव्यक्तिरिति वस्तुव्यङ्ग्यन्यायेनाभिव्यक्ति:।

अत: उभयोर्विभागं विना भावाभिव्यक्तये सामान्येन रसगङ्गा-धरे हर्षादीनां सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्ति: साऽपि रसन्यायेनेति। व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेति अपरे मन्यन्ते। इति।

अथ व्यभिचारिणो ब्रूते -

धृतिस्मृतिमतिव्रीडा विषादव्याधिसुप्तय:।
जाड्यनिद्रामदौत्सुक्यशङ्काचपलतालसा:।। ५८।।
हर्षासूयावहित्थौग्र्यप्रबोधश्रमगर्विता:।
दैन्यग्लानित्रासमोहचिन्तापस्मारमृत्यव:।। ५९।।
निर्वेदामर्षितावेगवितर्कोन्मादसंज्ञका:।
उदयस्थित्यपायत्रिधर्मका व्यभिचारिण:।। ६०।।
रतिर्देवादिविषया भाव: प्रोक्तो मनीषिभि:।

धृति:- धैर्यम्। स्मृति: स्मरणम्। मतिरर्थनिश्चय:। व्रीडा मन:संकोच:। विषाद: मन:पीडा। व्याधि: शरीररोग:। सुप्ति: स्वप्न:। जाड्यमर्थानिर्धारणम्। निद्रा मन:संमीलनम्। मद: आनन्दसंमोहसंभेद:। औत्सुक्यं कालाक्षमत्वम्। शङ्का, अनिष्टोत्प्रेक्षा। चपलता-चेतोऽनवस्थानम्। आलस: - क्रियास्वनादर:। हर्ष: - मन:प्रसाद:। असूया अक्षमा। अवहित्था आकारगुप्ति:। औग्र्यम् चण्डत्वम्। प्रबोध: जागरणम्। श्रम:, स्वेद:। गर्विता, परावज्ञा। दैन्यम्-अनौजस्यम्।

ग्लानि: -बलापचय:। त्रास: -चित्तचमत्कार:। मोह:-मूढत्वम्। चिन्ता-ध्यानम्। अपस्मार:, आवेश:। मृत्यु: - मरणम्। निर्वेद:—स्वावमाननम्। अमर्ष: -प्रतिचिकीर्षा। आवेग: -सम्भ्रम:। वितर्क: - निश्चयसम्भावना। उन्माद: -चित्तविप्लव:।

एतेषु भावेषु शङ्काचिन्तयो:, ग्लानिश्रमयो: अमर्षोग्रतयो: चिन्तावितर्कयो: विषादत्रासचिन्तासु चिन्तोद्‌वेगयो: जडतामोहयोर-सूयामर्षयोरापातत ऐक्यप्रतीतावपि अनुभावविभावाद्याश्रयणेन भेदोऽस्ति। भयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी शङ्का, शंसुखं-कुत्सयतीति व्युत्पत्ते:। इष्टानिष्टप्राप्त्या ध्यानात्मिका चिन्ता ''यथा चित्तायतेऽर्थेषु साचिन्तेत्यभिधीयते'' इति शङ्काचिन्तयोर्भेद:। आधिव्याधितो जायमाना ग्लानि वाङ्‌मन:कायकर्माणि ग्लानिर्ग्लपयतीति यत् इति ग्लानि:। बहुतरशरीरव्यायामजन्मा श्रम:, श्रृणाति हन्ति योऽङ्गानि स श्रम: परिकीर्तित:''इत्युभयोर्भेद:।

चिन्ता निश्चयस्याप्रयोजिका वितर्कस्तुतत्प्रयोजक इत्यनयोर्भेद:। यथा ''तर्क्यते तर्कते तर्को विचार: स्यात्सहेतुक:। कथं भविष्यतीतिचिन्ता, कथं भवितुमर्हति इति वितर्को बोध्य:। विषादत्रासचिन्तासु, विषाद: क्वचिद्‌वीराश्रितोऽपि त्रासस्तु तत्र नेति। चिन्तायां दृढ़व्यवसायाभाव:, विषादे तु दृढव्यवसायो, दैन्ये विपद्‌गणनं विषादे तु विपदगणनमिति सूक्ष्मो भेद:। ''मनसो विविध: सादो विषाद इति कीर्तित:। चिन्तावेगयोस्तु स्थानाद्‌गमनादिरूपानुभाव: गन्तृषु चेद् आवेग:, मानसी तु चिन्ता। ''अदेशकालविहितो वेग आवेग उच्यते''। जडतामोहयोस्तु क्रियासु करणानां शैथिल्यं जडता, करणैश्चक्षुरादिभिश्चाक्षुषादेरजननम् मोह इत्युभयोर्भेद:। मात्सर्योद्‌वेग-दम्भेर्ष्याविवेकनिर्णयवैक्लव्यक्षमाकुतुकोत्कण्ठाविनयसशय धार्ष्ट्यादीनामप्यत्रैवान्तर्भाव:। तद्‌यथा - असूयातो मात्सर्यस्य त्रासादु-द्वेगस्य अवहित्थातो दम्भस्य अमर्षादीर्ष्याया: मतेर्विवेकनिर्णययो दैन्यात्क्लैव्यस्य धृते: क्षमाया औत्सुक्या- त्कुतुकोत्कण्ठयोर्लज्जाया विनयस्य तर्कात्संशयस्य चापलाद् धार्ष्ट्यस्य वस्तुत: सूक्ष्मे भेदेऽपि

नान्तरीयकतया तद्रूपत्वेनैवाध्यवसानात् न भिन्नत्वेन गणनम्। तेषां लक्षणोदाहरणम्।

धृतेर्यथा –

प्रियाप्रियाविकारित्वं ज्ञानादौचित्यकारिता।
चित्तवृत्तिर्धृतिर्ज्ञेयोपप्लव-वारणात्मिका।। ६१।।

यथा ममैव –

श्रुत्वा सुतं गतनयै रिपुभिरशस्त्र-
हस्तं हतं परिमिलत्सजयद्रथाद्यैः।
शौर्येण गाण्डिवधनुः सशरं स्पृशन् स
पार्थोऽभवत् स्वधर्मानुगुणज्वलात्मा।। ६२।।

अत्र हतपुत्रो विभावः, सशरधनुषो मन्दस्पर्शोऽनुभावः, पार्थगत-धृतिं व्यनक्ति। स्वक्षत्रियधर्मोचितज्वलनादिना न तावदावेगादेर्व्यक्ति-बोध्या क्षत्रियोचितधर्मानुकूलज्वलनात्मत्वेन तस्य विवेकस्फुरणं प्रकाशते, अतो नात्रावेगादेः प्रसङ्गः।

स्मृतेर्यथा –

भ्रूविक्षेपादिभिः कार्यैश्चिरविस्मृतवस्तुनः।
स्मरणं स्मृतिरुक्ताऽन्यैः ज्ञानं संस्कारजं बुधैः।। ६३।।

यथा –

तद्वक्त्रमक्षिशिशिरं कुटिलालकालि-
चूर्णावृतं मधुरमन्दविकासशालि।
अन्तःप्रविष्टमिव मां मदयत्यनन्त
श्रीपुण्डरीकनयनस्य सुनन्दसूनोः।। ६४।।

चिराद्वियुक्ताया गोपिकाया उक्तिः। तत्पदेन चिरदर्शितस्य भगवतो नन्दसूनोः वक्त्रस्य स्मरणात् स्मृतिः। चिन्ताविशेषो विभावः, आक्षिप्तभ्रूविक्षेपादयोऽनुभावाः। स्मृतिर्भावो व्यज्यते। अन्तप्रविष्टमिवे-त्युत्प्रेक्षयाऽविरतनिर्वाधस्मरणं गम्यते। तस्मादेव मदस्यानुकूलत्वम्। विप्रलम्भशृङ्गारसत्वेऽपि तत्पदस्य स्मृतेरभिव्यञ्जकत्वे नास्ति क्षतिः। पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वेन भावध्वनिः।

मतेर्यथा

नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना कार्यनिर्धारणा मतिः।
निःशङ्ककार्यकरणचित्ततोषादिभिर्दिशेत्॥ ६५॥

यथा -

सत्यंपातुः पितु र्मा श्रुतवचनदृढापालनोत्थापकीर्तेः
पङ्काल्लेशाङ्कता स्यान्मनसि निजगतं धर्ममावीक्ष्य रामः।
निःशङ्कं पैतृदेवो वनगमनदृढः खण्डितानन्तशङ्को
धृत्वा त्वग्वल्कलानां कटुवसनयुगं प्राव्रजत्काननेषु॥ ६६॥

अत्र पितृदेवो भव, 'जीवतो वाक्यकारणादि'त्यादि-शास्त्रपर्यालोचनं विभावः, राज्यत्यागसंतोषपूर्वकनिःशङ्कवन-गमनानुष्ठानादिरनुभावः। अतः, मतिर्भावो व्यज्यते।

व्रीडाया यथा -

प्रतिज्ञाया अनिर्वाहादकार्यकरणादिभिः।
व्रीडा तदनुभावाश्चाधोमुखभूविलेखिता॥ ६७॥

यथा ममैव-

पाञ्चालीगुरुपाण्डवाभिमुखतः पार्थः प्रतिज्ञाय यत्
श्वो हन्तास्मि जयद्रथं दिवसतः कृष्णाद्वितीयस्त्वहम्।
दृष्ट्वाऽस्तङ्गतभानुमात्मसमरे भङ्गप्रतिज्ञोऽर्जुनः
मन्दंमन्दमवाङ्मुखो रथतलोपस्थो भुवं पश्यति॥ ६८॥

अत्रार्जुनस्य प्रतिज्ञाया अनिर्वाहो विभावः अवाङ्मुखत्व-भूदर्शनादिरनुभावः। अतः व्रीडा व्यज्यते।

विषादस्य यथा -

विषादः कार्यानिस्ताराद्दैवाद्व्यापत्तितो भवेत्
गूढोत्साहो, मनस्तापश्वसनध्यानचिन्तनैः॥ ६९॥

यथा- प्राणप्रिये रघुपतौ विपिने प्रयाते
दुर्दैवपीडितकुले विपरीतबुद्धौ।
प्राणा ममाद्य निर्यान्ति कथं न किञ्च
पापं महत्तरमितोऽपि समाचरन्ति॥ ७०

अत्र राज्याभिषेकविघ्न: दुर्दैवो वा विभाव:, जीवितनिर्याणांशंसा इतोऽपि महत्तरपापाचरणाशंसा, तदाक्षिप्तमनस्तापश्वसनादिश्चानुभावा:। अतो विषादो व्यज्यते। नात्र दैन्यं शङ्क्यम्, रघुकुलपतेर्दशरथस्य प्राणत्यागोत्साहवत: कुतो दैन्यम्। परेत्तकर्षापकर्षोत्साहाभावात् न दानदयादिवीरत्वम्।

व्याधेर्यथा -

रुजो वियोगात् हृत्तापो व्याधि: कम्पाङ्गक्षेपणै:।
श्वासाक्रोशदाहाद्यैर्वर्ण्यते द्विविधो बुधै:।। ७१।।

यथा ममैव -

दीर्घश्वासा श्लथतनुलता स्रस्तवाहु: क्षिपन्ती
प्रत्यङ्गं सा शयनशरणा मीलिताक्षी सदाहा।
सख्यानीतै: सरसविसिनीपल्लवै: पुण्डरीकै
र्लब्धाच्छादा मुरमुररवैर्दीनदृष्टिं दधाति।। ७२।।

अत्र विरहो विभाव:। दीर्घश्वासादिरनुभाव:। अतो व्याधिर्व्यज्यते।

सुप्ति: -

सुप्तिर्निद्रोद्भवा स्वप्नै: प्रलापोच्छ्वासनि:श्वसै:।
इन्द्रियास्पन्दनै: गाढनिद्रावस्थेति बोध्यते।। ७३।।

यथा ममैव -

मीलन्नेत्रार्धनिद्र: स्फुरदनितरचिन्तापारवश्येन कृष्णं
कंसस्तीक्ष्णोग्ररूपं निहतनिजबलं संस्फुरन्तं पुरस्तात्।
क: क: कोऽत्रास्ति दत्तां सशरधनुरसिं मामकं प्रोल्लपन् तद्
भृत्यै: साश्चर्यमुच्चैर्विकलमतिमना व्याजतोऽबोधि नित्यम्।। ७४।।

अत्र मीलन्नेत्रार्धिनिद्र: इति निद्राविभाव:, क: क: कोत्रेत्यादिप्रलापोऽनुभाव:। अतो निद्रातिशयावस्था सुप्तिर्व्यज्यते।

जाड्यम् -

इष्टानिष्टयो: श्रवणदर्शनाभ्यां च व्याधित:।
जाड्यं विजायते तूष्णीम्भावविस्मरणादिभि:।। ७५।।

यथा ममैव-

नेत्रानन्दो यदवधिगतस्तप्तहृच्चान्दनो मे,
श्यामोऽक्रूरप्रगमितरथो मानसेनेन्द्रियाणि।
निश्चेतव्यस्वकृतिविरतान्यस्तबोधानि सन्ति
तस्मादह्नोऽशनशयनगं नैव कालं स्मरामि।। ७६।।

अत्रेष्टात्मकविरहो विभाव:। इन्द्रियाणां स्वस्वकृतिभ्यो विरतिरशनशयनादिकालस्य विस्मरणञ्चानुभाव:। अत: जाड्यमप्रतिपत्तिरूपं व्यज्यते।

निद्राया यथा -

दौर्बल्यालसताचिन्ताश्रमादिभ्यो विजायते।
चेत:सम्मीलनं निद्रा वर्ण्याऽङ्गजाड्यगौरवै:।। ७७।।

यथा ममैव -

पित्रादेशादरण्ये जलधिदशसमावासनायाद्यरात्रौ
अह्ना पत्राणशून्या कुशकटकचितां भूमिमास्कन्दमाना।
सीता रामाङ्कलीना दलशयनगता गात्रनिष्कम्पमाप्ता
प्रात: प्राप्तारविन्दाननसुरभिमहैर्नालिभिर्बोधिताभूत्।। ७८।।

अत्र वनविहरणश्रमो विभाव:, गात्रनिष्कम्पमाप्तेति गात्रगौरवं, रामाङ्कलीनेति जाड्यादिकं अलिभिर्न बोधितेत्याद्यनुभाव:। अतो निद्रा व्यज्यते ।

मदस्य यथा -

मदो विभावान्मद्यादे: विद्यैश्वर्योत्तमस्त्रिय:।
स्वापस्मितगीतहास्य घूर्णनस्खलनादिना।। ७९।।

यथा ममैव -

शतोपायैर्लङ्कापुरवसतिभिस्त्यक्तशयित:,
बहो: कालाल्लब्ध्वा मदमहिषपूरं निशिचर:।
भुजोत्क्षेपोद्घूर्णद्गतिरनभिशिष्टार्थवचन:।
परित्यक्तस्वास्त्रो रणभुविगत: कुम्भकरण:।। ८०।।

कुम्भकर्ण:, कर्णस्येन्द्रियत्वात् सामान्यकरणशब्देनापिग्रह:। अथवा कुम्भकर्णोनामकरणं यस्य स मध्यमपदलोपित्वात् कुम्भकरण

इति। तत्रोत्तममध्यमाधमप्रकृतिकमदेषु क्रमेण, स्वापस्मितादि-गीतहास्यादि घूर्णनस्खलनादिश्च अनुभावा भवन्ति। मदसेवकोऽपि उत्तममध्यमाधमप्रकृतिको भवति। अत्राधमप्रकृतिको मदः।

अत्र मदमहिषपूरसेवनं विभावः। भुजोत्क्षेपघूर्णनाव्यक्तवचनादि-रनुभावः। अतो मदो व्यज्यते।

औत्सुक्यस्य यथा -

औत्सुक्यमिष्टस्मरणाद् विलम्बासहतां वदेत्।
त्वरादिवावलोकादिरणरणकानुभावनैः।। ८१।।

यथा ममैव -

रघुपतिमायान्तं जानकीलक्ष्मणाभ्या
मनुदिनयद्दर्शोल्लासरोमाञ्चपूरः।
मुनिशरभङ्गोऽपि त्यक्तपूजासनोऽर्वाक्
क्षिपति वपुः पश्यत्यूर्ध्वचक्षुस्त्वरायाम्।। ८२।।

अत्र रघुपतिस्मरणं विभावः। त्वरा, उर्ध्वचक्षुरिति दिगवलोकनं वपुःक्षेपः पूजासनत्यागादिरिति, आक्षिप्तरणरणकञ्च अनुभावाः। अतः शरभङ्गनिष्ठौत्सुक्यं व्यज्यते।

शङ्काया यथा -

चौर्यापराद्धकर्मादिः शङ्का स्वपरजा द्विधा।
वैवर्ण्यपार्श्वदृष्ट्यादेरङ्गचेष्टादिभिर्नयेत्।। ८३।।

स्वपरजेति समानापराधयोः स्वपरयो राजादिना परदण्डमवलोक्य स्वस्मिन् तुल्यदण्डसंदेहेन स्वजा शङ्का जायते। परजा तु कृतदोषात्परस्माद् वा जायते।

स्वजायाः शङ्काया उदाहरणं यथा ममैव-

घोरे वने हरिनिभोद्गतिभातशौर्यो
त्कर्षानुभावमहितौ ज्वलितप्रतापौ।
श्रीराघवौ कपिपति र्बलिबालिभीतः,
पश्यन् शुशोच किमिमौ कुरुतोऽनभीष्टम्।। ८४।।

बलिनो बालिनो भीतस्य सुग्रीवस्य शङ्का। कृतापराधेऽन्यत्र

बालिनो मृत्युदण्डं संस्मृत्य स्वस्मिन् दण्डं कल्पयति सुग्रीवः रामलक्ष्मणदर्शनात्।

अत्र राजापराधो विभावः। बालिप्रेषितौ वीराविमौ रामलक्ष्मणौ मम किमनभीष्टं करिष्यत इत्येतेन वैवर्ण्यास्यशोषादिः "पश्यन् शुशोच" इत्यादिना पार्श्वावलोकनादिराक्षिप्तोऽनुभावः। अतः शङ्काभिव्यज्यते। **चपलताया यथा -**

रागादिजादनालोच्य चापलं कार्यकारिता।
वाक्पारुष्यप्रहारातिभर्त्सनैरनुभावयेत्।। ८५।।

यथा ममैव -

मीनं दुर्भेद्यलक्ष्यं द्रुपदजवरणे शुल्कमाभिन्दतोऽग्रे
राज्ञां, ये फाल्गुनस्योपरि परिपतनोत्साहिनस्तानवेक्ष्य।
विप्राः पालाशदण्डैस्तदुपरिपतनायोत्थितै रक्षणाय
मिथ्यानेपथ्यविप्रस्य रुषितवचनैर्भर्त्सयामासुरुग्रान्।। ८६।।

अत्र कृत्रिमविप्रवेषस्यार्जुनस्य द्रौपदीस्वयंवरे लक्ष्यं भिन्दतः, दुर्मददुर्धर्षकौरवादिक्षत्रेभ्यो रक्षणाय तान् प्रति विप्रवटूनां पलाश–दण्डोत्थापनं चापलं व्यनक्ति। अत्र विप्रवेषार्जुनानुरागादुत्थापित–स्तदितरक्षत्रियद्वेषो विभावः। वाक्पारुष्यप्रहारेच्छा- भर्त्सनादयोऽनुभावाः। विप्रवटूनामिदम्प्रथमतया क्षत्रियान् पराजयितुं दण्डोत्थापनमितिचापलम्। न चात्रामर्षो ध्वन्यते इति वाच्यम्, वटुस्वभावेतरोऽमर्षः वीरोचितोत्साहसंवलितः। अत्र तु अमर्षातिशयरूपचापलमेव। अत्रामर्षो विभावः इति।

आलस्यस्य यथा -

सौहित्यश्रमगर्भादेरालस्यं जृम्भणादिभिः।
सर्वत्र कार्यप्रद्वेषैर्निद्रातन्द्रादिभिर्दिशेत्।। ८७।।

यथा ममैव - पिचण्डिलो लब्धपयःसुवासित-
स्वाद्वन्नपूर्णः परगेहमागतः।
आकण्ठमाचम्य पिचण्डमामृशन्
दृशौ निमीलन् शयितो विजृम्भते।। ८८।।

अत्र सौहित्यं विभावः। जृम्भणाक्षिनिमीलनशयनादयोऽनुभावाः अत आलस्यं व्यज्यते। नात्रासामर्थ्यमतोऽसामर्थ्यात्मनो ग्लाने र्भेदः। न च कार्याकार्यविवेकशून्यत्वमतो जडतायाश्च भेदः।

हर्षस्य यथा -

देवभर्तृप्रसादेष्टसङ्गमेप्सितलाभतः।
हर्षोऽनुभाव्यो रोमाञ्चनेत्रवक्त्रप्रसादनैः।।८९।।

यथा ममैव -

स्थानाल्लब्धतिरस्कृतिर्गुरुमुनेराप्तोपदेशः शिशु
र्मात्रा मोदितनिश्चयोऽथ विजनारण्ये तपस्यास्थितः।
शङ्खाम्भोजगदारपाणिमवशो दृष्ट्वा हरिं स्वाग्रतः
औत्तानिर्विकसद्दृगब्जवदनः स्वेदाश्रुभिर्गद्गदः।। ९०।।

अत्र तिरस्कृतप्रह्लादस्य हरिदर्शनमभिलषतस्तपस्यतोऽनुभावैर्हर्षो व्यज्यते। अत्र हरिप्रसादो विभावः। नेत्रवक्त्रविकासः, स्वेदाश्रुरोमाञ्चादयोऽनुभावाः। अतो हर्षो व्यज्यते।

असूयाया यथा -

उत्कर्षैश्वर्यसौभाग्यस्यासूयाऽन्यस्य दर्शनात्।
दोषप्रख्यापना दृष्ट्यप्रदानेर्ष्यादिभिर्दिशेत्।। ९१।।

यथा- गाण्डीवच्युतवाणजातदहनज्वालावलीमीलितं
भीषणखाण्डवकाननं कुरुपतिः श्रुत्वाऽर्धदृग्मीलनैः।
शूरे सम्प्रथितेऽपि जग्मुषि, वृथा शौर्यं जडे तस्थुषि
कौन्तेय ! प्रथयस्व दावदहनग्रासीकृते पौरुषम्।। ९२।।

अत्रार्जुनस्य पराक्रममसहमानस्य दुर्योधनस्योक्तिः। खाण्डव-वनदहनादिनार्जुनस्य शौर्योत्कर्षदर्शनं विभावः। सत्यपि जङ्गमशूरे, जडात्मकखाण्डववने स्वयमेव दावदहनेन ग्रासीकृतत्वाशंसयाक्षिप्त मिथ्याशूरत्वादिदृग्निमीलनाद्यनुभावः। अतोऽत्रासूया व्यज्यते।

अवहित्थाया यथा -

अवहित्था धाष्ट्र्यकौटिल्यव्रीडादिप्रभवा मता।
मिथ्याधैर्यकथाभङ्गव्यथाशून्यस्मितादिभिः।। ९३।।

यथा- प्रसङ्गे दमितारीणां वन्दिभिर्दमनश्वसुः।
स्मरणाञ्चद्रोमाऽऽह कर्पूरोच्चैर्द्रवं नलः।। ९४।।

अत्र संसदि दमयन्तीस्मरणोत्पन्नरोमाञ्चगम्या व्रीडा अनुभावः। रोमाञ्चादिना व्यक्ताधैर्यस्य कर्पूराधिकद्रवलेपादिजन्यत्वं रोमञ्चास्यापलप्याक्षिप्तस्य मिथ्याधैर्यादिरनुभावता। अतः अवहित्था व्यज्यते।

औग्र्यस्य यथा -

द्रोहात्कलत्रपुत्रादेश्चौर्यादिश्चापमानतः।
चण्डत्वमुग्रता बन्धवधनिर्भर्त्सनैर्दिशेत्।। ९५।।

यथा ममैव -

राधेयदुर्योधनवीरणं प्रियापराभवध्यानरुषानलाननः।
दुःशासनं गर्वितचालमाप्य संङ्ख्येऽसदाराय जगर्ज भीमः।।९६।

अत्र कलत्रपाञ्चालीपराभवस्मरणं विभावः, दुःशासनस्य रणे गर्वतः सञ्चलनमुद्दीपनविभावः। भीमस्य रुषानलाननत्वगर्जनादिनाक्षिप्तवधनिर्भत्सनादयोऽनुभावाः। अतः औग्र्यं व्यज्यते।

प्रबोधस्य यथा -

स्वप्नसंस्पर्शशब्दादेराहारपरिणामतः।
प्रबोधोऽङ्गास्थिविस्फोटजृम्भणेष्टस्मृतैर्दिशेत्।। ९७।।

यथा ममैव -

निद्रयेष्टविनिवेदितो लसत्कासकान्तवक्त्राम्बुजो दृशौ,
मर्दयन्नङ्गमस्थि मोटयन् संस्मरन् शिवशिवेत्युदाचरत्।। ९८।।

अत्रेष्टविनिवेदनात्मस्वप्नो विभावः। मुखप्रसादनेत्रमर्दनअङ्गमोटन शिवनामोच्चारादयोऽनुभावाः। अतो विबोधो व्यज्यते।

स्वप्नसंस्पर्शशब्दादेः इत्यत्र शब्दपदेनोपदेशादिना जायमानोऽज्ञाननिवृत्तिरपि प्रबोधो वक्तुं शक्यते।

यथा ममैव -

बन्धुस्नेहरजोनिमीलितदृशः क्षत्रोचिताचारणाद्
वैमुख्यं दधतः सकार्मुकशरत्यागेन शोकाभृतः।

पार्थस्य स्मितमात्रमोहहरणः कृष्णस्तमो गीतया
दूरीकृत्य लसत्कपोलनयने वक्त्रे विकासं व्यधात्।। ९९।।

अत्र विहिताचरणविमुखत्वेन व्यक्ताज्ञानेनावृतस्यार्जुनस्य गीतात्मकशब्दोपदेशद्वारा भगवता विहितो विबोधः। अत्र भगवतः स्मितिर्गीतोपदेशो विभावः। अर्जुनस्य कपोलमुखनयनादि-विकासोऽनुभावः। अतोऽज्ञानध्वंसात्मको विबोधो व्यज्यते।

श्रमस्य यथा -

मैथुनात्यध्वव्यायामनृत्तात् संजायते श्रमः।
अङ्गमर्दनजृम्भादिश्वासनिद्रादिभिर्दिशेत्।।१००।।

यथा ममैव- निशान्ततल्पमागतं चिरात्प्रवासवासिनं
रताङ्गनर्मकार्मणं शताभिलाषहृच्छया।
मदात्तयौवनोद्गतोद्रतिक्रियातिरामिता
विजृम्भणाङ्गमोटनां विना क्षणं न तिष्ठति।। १०१।।

अत्रोद्रतिक्रिययात्यधिकरमणादिव्यापारो विभावः। अनिशविजृम्भ-णाङ्गमर्दनमोटनादयोऽनुभावाः। अतोऽत्र श्रमो व्यज्यते।

गर्वस्य यथा -

विद्यावयोबलैश्वर्याद्गर्वस्त्वन्यावहेलनम्।।
अन्यापहासावज्ञानामर्षासूयादिभिर्दिशेत्।।१०२।।

यथा ममैव -

शास्त्राब्धिं लोडनार्थं विदधत विवृतिं मद्वयस्याद्यमत्स्याः
रत्नोत्पत्तौ तुलां ते दधति गिरिमहन्मन्दरस्याल्पशः किम्।
काव्ये वा शास्त्रतत्वे रसगहनगिरः कोऽस्ति मत्तोऽतिरिक्तः
ब्रह्मास्वादानुभूत्यै वहतु कुलधुरं योऽत्र निर्मत्सरेण।। १०३।।

अत्र स्वकीयशास्त्रकाव्योभयासाधारणताज्ञानं विभावः। स्वसम-कालीनान्याधिक्षेपासूयादयोऽनुभावाः। अतो गर्वो व्यज्यते।

दैन्यस्य यथा -

चिन्तादौर्गत्यहृत्तापाद् दैन्यमोजोविनिर्गमः।
स्वापकर्षाङ्गनिर्मृज्याशिरोव्यावृत्तिभिर्दिशेत्।।१०४।।

यथा ममैव- नितरां नयनोत्सव: श्वसज्जगतां प्राणभृतां हृदाहित:।
सुभगायतिरा:! विवासितो दुष्पापेन मया रघूत्तम:।१०५।

अत्र श्रीरामं वने विवासितवत: पितु: दशरथस्योक्ति:। अत्र रामस्य वनविवासान्मनस्तापो विभाव:। दुष्पापाभिधानेन स्वात्मापकर्ष: ''आ:'' पदेनाक्षिप्तदौर्गत्यादिश्चानुभावा:। अतोदैन्यं व्यज्यते।

ग्लानेर्यथा-

मनस्तापोपवासाध्वरतिक्षुद्व्याधितो भवेत्।
ग्लानिरङ्गश्लथभ्रान्तिवैवर्ण्येक्षणसञ्चरै:।।१०६।।

यथा ममैव- सीतान्वितौ रघुपती वनवासहेतो
राज्याद् गताविति स्वमाकलयन् निमित्तम्।
चिन्ताधिलुप्तबलवीर्यमतिर्भ्रमद्दिग्
दूरापसारितरुचिस्त्वधिकोशलेश:।। १०७।।

अत्र मनस्तापो विभाव:। लुप्तबलवीर्यमतिरिति पदेनाक्षिप्त-वैवर्ण्यक्षामश्लथाङ्गादयो दिग्भ्रमणनिष्कान्तिश्चानुभावा:। अतोऽत्र चिन्तविशेषो ग्लानिर्व्यज्यते। ओजोविनिर्गम इत्यादिनानौजस्यमात्म-चित्तवृत्तिविशेष एव ग्राह्यो, न ओजोऽभाव:। अन्यथा ग्लानेर्नाश-रूपत्वापत्ति:।।

त्रासस्य यथा -

त्रास:स्फूर्जथुनिर्घाताकल्पितोग्रध्वनेर्भवेत्।
रोमाञ्चमोहनि:स्पन्दप्रलयोद्गद्गदैर्दिशेत्।।१०८।।

यथा ममैव -

केलीप्रिय: बालकमण्डलेषु गा रक्षितुं वीरमहत्कुरुभ्य:।
गत्वोत्तरो ज्याध्वनिनास्तचेता रथादुपप्लुत्य पपात भूमौ।।१०९।

अत्र प्रत्यञ्चाया अकल्पितापूर्वनिर्घोषो विभाव:। अस्तचेता इत्यादिनाक्षिप्तप्रलयादि:, उपप्लुत्य भूमिपातेनाक्षिप्तकम्प-मोहादयोऽनुभावा:। अतस्त्रासो व्यज्यते। नात्र भयं मन्तव्यम् पूर्वापरविचारवतोजनस्य भयमुत्पद्यते। अत्र तु केलीप्रियस्य रभसाद्रणमागतस्योत्तरस्याकस्मादश्रुतपूर्ववीरधनुर्ज्याध्वनेस्त्रास एव

मन्तव्यः।

मोहस्य यथा –

आवेगभयघातादेर्वियोगादेश्च जायते।
मोहो मानसशून्यत्वं निःसञ्ज्ञोद्घूर्णनैर्दिशेत्।। ११०।।

यथा ममैव– श्रुत्वा महारथसमुद्ररणाङ्गणेऽस्मि
न्नप्राप्तयौवनसुतं निहताभिमन्युम्।
माताऽऽगतं सहरिमर्जुनमस्तधैर्या
दालोकतेऽपनिमिषा, हतसंस्तवेव।। १११।।

चिन्ताया यथा–

इष्टापहारानिष्टाप्तिदारिद्र्यादेः प्रभूयते।
चिन्ता, ध्यानं, स्मृतेरन्योर्ध्वाधोमुखविचिन्तनैः।
वितर्कोऽस्या क्षणे पूर्वे पाश्चात्ये वोपजायते।
ध्यानं चिन्ता, हितानाप्तेः संतापादिकरी मता।। ११२।।

चिन्ता वितर्काद्वितर्कश्च चिन्ताया प्रभवतीति वितर्कात् पृथग्भावः। अत उक्तम् – ''वितर्कात्मा भवेच्चिन्ता स्मृतेरन्या प्रतीयते'' इति।

यथा ममैव –

पुत्रं काननघोरदुःखदहने निर्यातितं वल्लभं,
प्राणत्यागसमुत्सहं निशिदिनं दृष्ट्वा रुदन्तं जनम्।
कार्श्योत्तापविवर्णतामुपगता कौशल्यका शोचति
किम्भावीति रघोःकुलेऽपरमहो दुर्दैवनिष्पीडितम्।। ११३।।

अत्र इष्टापहारो विभावः। कृशतानुतापादिरनुभावः।। चिन्ता व्यज्यते। चिन्तातो वितर्कः ''किं भावीति'' अत्र बोध्यः।

नयनद्युतिरस्तपङ्कजा मुखशोभा जितचन्द्रमण्डला।
अनुपमविशदा तनुः कृता लोलापाङ्गदृशो नु किंकृते।। ११४।।

अथ वितर्कानन्तरं चिन्ता। ''नु किंकृते'' इति वितर्कानन्तरं तदप्राप्तिर्विभावः संतापादयोऽनुभावाः, ततश्चिन्तेति मन्तव्यम्।

अपस्मारः –

रक्षोग्रहाशुचिस्थानधातुवैषम्यभीतितः।
अपस्मारः फेनलालामुखत्वश्वासपातनैः।। ११५।।

यथा ममैव -

शौण्डीरशुण्डारमवाप्य सन्निधौ साटोपमाचिक्रमिषोर्हरेः क्रमम्।
दृष्ट्वैव फेरुर्निपपात भूतले लालामुखोदग्रकफो विचेतनः।११६।

अत्र भीतिर्विभावः। फेनलालामुखत्वभूमिपातादिरनुभावः।

मृत्योर्यथा -

मरणं व्याधिघातादेः प्रागवस्था मृतेरिदम्।
विचेष्टितविवर्णाङ्गायामम्लिष्टाक्षरैर्दिशेत्।। ११७।।

यथा ममैव -

प्रियगुणानुदिनस्मरणा हला सखिमुखं प्रति केवलमीक्षते।
सपदि संगिरिताऽपि निमीलितोभयदृगेव मनागपि नैजते।।११८।।

मृतेः प्रागवस्थामृतिरिति हेमचन्द्रः। पण्डितराजोऽपि ''न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुम्। चित्तवृत्यात्मकेषु भावेषु तस्याप्रसक्तेः। इति

अत्र प्रियविरहजन्यव्याधिर्विभावः। मनागपि कम्पनाभावः, दृग्निमीलनञ्चानुभावौ। अतो मरणं व्यज्यते।

''प्रागवस्थामृतेरिदम्'' अत्रैतद्वक्तव्यमस्ति। व्याधिः घातादिश्च मृतेर्विभावौ। तथा घातादेर्जायमाना मृतिः मृतेः प्रागवस्थापेक्ष्यते यतोहि अस्या अनुभावा 'भूमौविचेष्टनारावविलापभ्रमणादिभिः'' इत्युच्यन्ते यत्तु व्याधिजा मृतिः तस्याः प्रागवस्था मृतिरिति नापेक्ष्यते। यतोहि उक्तं भावप्रकाशने -

'मरणेऽभिनयो नास्तीत्येतत्काव्ये न वध्यते' इति एतेन स्पष्टं यत् दृश्यं विहाय श्रव्यकाव्ये मृतेरपिनिबन्धनं कर्तु शक्यते। यथा अत्रैव निमीलितोभयदृग् मनागपि नैजते'' इत्यादिना मृतिरेवानुभाविता। यत्तु चित्तवृत्तिविशेष इत्युच्यते तत्तु आश्रयविभावे स्वीकर्तव्यम्।

निर्वेदस्य यथा - तत्वावबोधरोगादेर्निर्वेदो श्रेष्ठनीचयोः।
अनुपादेयताश्वासरोदनात्मावमाननैः।। ११९।।

यथा ममैव -

एकाकिनैव कपिना हतमात्मपुत्रं
पुत्रोपमं सपुरचारुवनं च दृष्ट्वा
मन्दोदरी उरस्ताडनमालुलोचे
मिथ्यात्वमेव जगतः सुखतो विरज्य।। १२०।।

अत्र हतपुत्रविरहो विभावः। उरस्ताडनादिरोदनादिरनुभावः। जगतोमिथ्यात्वं सुखविरागादिश्च नात्र स्थायिनं निर्वेदं जनयति। पुत्रवियोगदुःखेन दुःखिता मन्दोदरी जगतः निःसारत्वं मन्यते न तु विवेकद्वारेति। नात्र रसबोधः अतो निर्वेदो भावो व्यज्यते।

अमर्षस्य यथा -

पराक्षेपावमानादेरमर्षोऽपचिकीर्षया।
मौनोपायमृगस्वेदशिरःकम्पादिभिर्दिशेत्।। १२१।।

यथा ममैव -

संसदि श्रुतसुतो निवेदितः कार्यमार्यजनकेन पूरितुम्।
हेलयार्धनयनान्यवीक्षणः सेति शोणनयनेन संस्थितम्।। १२२।।

अत्र विद्वत्संसदि आर्यजनकेन शास्त्रार्थात्मकं कार्यं पूरयितुं श्रुतसुतो निवेदितः किन्तु स अनवधानतया सोपेक्षप्रकृतान्यवस्तु वीक्षमाण इति दृष्ट्वा जनकः शोणनयनोऽभूत्।

अत्रावमाननं विभावः, नयनारुण्यमौनादिरनुभावः। अतोऽमर्षो व्यज्यते। नात्रक्रोधःसम्भावनीयः तस्य स्थायित्वात् अयं च क्षणिकत्वादिति भेदः।

आवेगस्य यथा-

अनर्थातिशयोत्पातादिभ्य आवेग उच्यते।
भयसम्भ्रमकुण्ठान्ध्यत्वरासर्पणकम्पनैः।। १२३।।

यथा ममैव -

अशस्त्रविहतोन्मत्तगजं श्रुत्वा समागतम्।
कृष्णं कंसभार्याऽन्तर्बहिर्भवनस्य धावति।। १२४।।

अत्र कृष्णागमनं अनर्थातिशयात्मकं विभावः। भयकुण्ठा—

त्वराधावनादयोऽनुभावा:। अतोऽत्र कंसभार्याया आवेगो ध्वन्यते। यद्यपि अत्र चिन्ताऽपि प्रतीयते किन्तु चिन्ताया मानसत्वात् आवेगस्य आङ्गिकत्वाद्, अन्तर्बहिर्गमनादिना आवेग एव व्यज्यते न चिन्तेति। गुणीभूतत्वेन चिन्ताऽपि भूयाच्चेन्नास्ति क्षति:।

वितर्कस्य यथा -

वस्त्वर्थानिश्चयादूहो वितर्क: संशयान्मत:।
शिर:कम्पसभ्रूक्षेपविस्मृतार्थविमर्शनै:।। १२५।।

यथा ममैव -

सबलमात्मकुटीमयत: कृतिं रघुपतिर्भरतस्य विभावयन्।
कुमतिरस्ति, मयि श्वसनं कथं श्वसिमि चेन्नियतं भरतार्द्रता।।१२६।।

अत्र मां प्रति भरतस्य कुमतिर्वाने'ति संशयो विभाव:। उत्तरार्धेनाक्षिप्तशिर:कम्पादयोऽनुभावा:। भरतस्तु मम प्राणा: इत्यपि ध्वन्यते। किन्तु व्यङ्ग्यो वितर्क: स्पष्ट एव।

उन्मादस्य यथा -

उन्मादोऽभीष्टविरहप्रभृतेश्चित्तविप्लव:।
अनिमित्तस्मितोत्क्रुष्टप्रलापस्खलनादिभि:।।१२७।।

यथा ममैव -

स्तोकानतां तनुलतां मधुरद्विरेफ-
गुञ्जत्कलां सुमोद्गुच्छविलोभिमध्याम्
आलिङ्ग्य मञ्जुललतां न कदापि मुञ्चा-
म्यद्यप्रभृत्युल्ललाप प्रियां प्रिये! त्वाम्।। १२८।।

अत्र प्रियाविरहो विभाव:। तनुलतामेव तन्वङ्गीं मन्यमानस्य नायकस्य "न कदापिमुञ्चाम्यद्यप्रभृत्युल्ललाप प्रियां, प्रियेत्वाम्" इत्युक्तेराक्षिप्तस्यासम्बद्धप्रलापादेरनुभावत्वम्। अत उन्मादो व्यज्यते। उन्मादोऽपि यद्यपि व्याधिरोगविशेषस्यैव भेदस्तथाप्यन्यस्मिन्नन्यावभासरूपचित्तविप्लवस्य विशेषत: स्फोरणाय विभक्ततया गृहीत:।

रतिर्देवादिविषया इत्यस्योदाहरणम् यथा मम भारतजीवननामकाव्ये यथा-

शेषायप्रणतोऽर्धकान्तवपुषः शीर्षे किरीटायते
कण्ठे माल्यगुणायते कटितटे काञ्चीयते कोमलः।
सौभाग्यात्कटकायते चरणयोर्हस्तेऽङ्गुलीयायते
फूत्कारैर्मधुरैः सुगन्धिभिरहो यो मन्दवातायते।। १२९।।

रसाभासः

'रसभावतदाभास....' इति कारिकया आचार्यमम्मटेन रसाभास-भावाभासौ समुदाहृतौ। अत्र प्रयुक्त आभासः किमर्थक इति विचारयन् पण्डितराजो हेत्वाभासवदत्राभासप्रयोग इत्येके, नह्यनुचितत्वेनात्महानि-रपितु सदोषत्वादाभासव्यवहारः, अश्वा-भासादिव्यवहारवदित्यपरे इति मतद्वयं न्यदर्शयत्। अत्राद्यमते यथा हेत्वाभासो हेतुर्न भवति तथा चानुमितिर्नजायते तथैव रसाभासस्थले यत् सहृदयेषु परनिर्वृतिरूपकार्य रसस्यास्ति तद् भवति वाने'ति प्रथमः प्रश्नः। भवतिचेद्रसात्मताऽत्रापि, नो चेत् कथमसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यात्मोत्तम-ध्वनौ रससमानधिकरणत्वेनास्योपादानम्। सदोषत्वाद् अश्वाभासादिवत् नास्त्यात्महानिरितिचेत् रसात्मतायां कथमस्य सदोषत्वम्। सदोषत्वे कथञ्चासंलक्ष्यक्रमतया चर्वणम्। इत्यनैकान्तिका धीः।

अतोऽत्र काव्यकारणत्वेन सत्यामपि :शक्तौ काव्यशास्त्रा-द्यालोचनरूपनिपुणताया अभावे काव्यस्य प्रवृत्तिनिवृत्यात्मको-पदेशपुरःसरं चतुर्थपुरुषार्थस्यावाप्तिरत्र न घटते किं चतुर्थस्यैव प्रथमस्याप्यवाप्तिर्दुर्घटा। इत्थं विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगादेव जायमाने रसाद्याभासे रसात्मतायां नास्ति काचित्क्षतिः। केवलं विभावादेर्निपुणतारूपकारणानश्रयत्वात् सदोषत्वमपीति वक्तुं शक्यते। इत्थं रसाभासे क्वचिद् विभावस्य क्वचिदनुभावस्य क्वचिद् व्यभिचारिभावस्य क्वचित्स्थायिनोऽनौचित्यं कारणं भवति।

अतः - **रससाभासलक्षणमाह** -

स्थावरतिर्यग्योनिष्वारोपात्स्थायिनोऽप्यनौचित्यात्।
विहिताचारविघातादाभासा रसे वुधैर्मन्यन्ते।। १२९।।

स्थावरादिषु उत्तमजनचेतनस्थाय्यारोप: प्रथम आभास:। द्वितीयश्चानौचित्येन। अनौचित्येन लोकव्यवहारानौचित्यं गृह्यते। शास्त्रादिविहिताचारविघातात् तृतीयो रसाभास: इति।

इत्थमुपनायकप्रतिनायकानुभयनिष्ठरतीनमाभासता अनौचित्याद् भवति। मुनिगुरुपत्नीबहुनायकविषयकरतीनां विहिताचारविघातत्वे-नाभास:। स्थावरतिर्यगादियोनिष्वारोपात् रत्यादीनामाभासता वोध्या। कलहशीलकुपुत्र—वीतरागादिषु शोकस्य, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन विस्मयस्य, चारोपाद्रसाभास: तत्वस्याभावात्। कदर्यकातरादिगतत्वेन क्रोधस्य महावीरगतत्वेन भयस्य अनौचित्येनाभास:। ब्रह्मविद्यान-धिकारिचाण्डालादिगतत्वेन निर्वेदस्य पित्राद्यालम्बनत्वेनोत्साहस्य गुर्वाद्यालम्बनत्वेन हासस्य यज्ञीयपशुवसासृङ्मांसाद्यालम्बनत्वेन जुगुप्साया, शास्त्रादिविहिताचारविघातादाभासो बोद्धव्य:।

तत्र **रतेरुपनायकनिष्ठत्वे** यथा मम -

मास: प्रौष्ठपदो निशा मुदिरजोन्मत्तान्धकारच्छद
सूचीभेद्यतमा दवीयसि गुरौ बालाहमेकाकिनी।
पान्थ ! त्वं वसितुं यदिच्छसि वस प्रायोऽन्यथा गम्यतां
सस्मित्या कथित: विदग्धपथिको वासाय रोमाञ्चति।। १३०।।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा-

बिभ्यद्वज्रधरं वशीकृतसमत्रैलोक्यशूरं हय
ग्रीवं स्वैरविहारलङ्घितपुरं दृष्ट्वागतं साध्वसात्।
वैमाना: दिविषद्नभोविहरणा गन्धर्वयक्षामरा:
स्वर्बाला मुमुहु: स्खलनमतिगिरो प्रासादनायास्तुवन्।। १३१।।

अनुभयनिष्ठत्वेन यथा -

ऊढान्यकान्तेन भुजान्तराले दृढं गृहीता परिवेपमाना।
बाला नवोढा पवनावधूता प्रतानिनीवालुठतीतरस्मात्।।१३२।।

अत्र नवोढानिष्ठरतेरप्रतीत्वादनुभयनिष्ठत्वम्।

एतेऽनौचित्याद्रसाभासा:।

विहिताचारविघातत्वेन रसाभासा तु यथा- **गुरुपत्नीगतायाम्**-

पाण्डु:शीतजडो प्रकाशिततनुरन्याभिपोषेण यो
विद्याभ्यासमनारताभिसक्तो दृष्ट्वाऽत्रपत्नीं गुरो:।
लोलापाङ्गश्रवोविसारितरलोत्तारां मदेनातुरां
तारां, न स्थिरतां क्षणं स दधते रात्रिं गमैर्यापयन्।। १३३।।

मुनिपत्नीगतायां रतौ यथा –

स्नातुं गतं मुनिमवेत्य शचीपतिस्तां
सौन्दर्यभानिधिजिताखिललोककान्ताम्।
मन्दस्मितां कुटजकाशकुशीयशय्यां
मिथ्यामुनि: स बुभुजे रहसि प्रफुल्लाम्।। १३४।।

बहुनायकविषयायारतेर्यथा–

गाढालिङ्गनमार्गणाभिमनसोऽपूर्वाभिरूपस्त्रिय:,
मात्रापाङ्गवशीकृतेन्द्रियमनस्त्यक्तान्यकार्यविशा:।
पश्चान्मोहनमन्त्रकृष्टकरणा लग्नास्तयाऽवेत्य नु,
तेष्वीषद्विकसत्शिताम्बुजनिभा दृग्मालिका: पातिता:।।१३५।।

अथवा यथा काव्यप्रकाशे – स्तुम कं वामाक्षि ....इति ।

हे वामाक्षि ! सुन्दरनयने ! कं स्तुम: यं बिना न रमसे । यत्र तव रत्ययोगव्यवच्छेद: स स्तोतव्यइत्यर्थ:। रणयज्ञाग्नौ क: प्राणान् विलेभे उत्ससर्ज, जुहावेत्यर्थ: यं मृगयसे अन्विष्यसि। सुलग्ने, जीवाधिष्ठितसप्तमग्रहे इन्दुनिरीक्षिते सकलशुभग्रहे इति चक्रवर्ती, को जात: उत्पन्न:, यं बलात् हठाद् आलिङ्गसि। हे मदननगरि ! कस्य तप: श्री: य, तु एषा त्वं ध्यायसि। इत्यर्थ:

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्या: स्तुम: इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादान व्यनक्ति। इति वृत्ति:।

वृत्तावस्मिन् बहुव्यापारोपादानं कर्तृपदं, व्यापारोपादानं 'स्तुम:' इति वहुवचनान्तपदाभिव्यक्तं तस्या: कामिन्या, अभिलाषं= कामिनीप्राप्त्यात्माभिलाषं व्यनक्ति। ''स्तुम'' इत्यनेनैव व्यापार-प्रधानत्वेन बोधे कृते बहुकर्तृकस्तवनव्यापारोपादानम्। व्यापारोऽ-यमनेककामुकान् विषयीकरोतीति, अनेक कामुकविषयमितिपदेन

नायिकाविषयकबहुकामुकनिष्ठरतित्वेन रसाभासः। इत्येकः पक्षः। 'स्तुम इत्याद्यनुगतम्' इत्यत्र आदिपदेन रमसे, मृगयसे आलिङ्गसि ध्यायसीति क्रियापदमपि गृह्यते, एभी रमणान्वेषणालिङ्गनध्यानानि व्यापाराः बहवस्ते, सर्वे लट्लकारवाच्यवर्तमानकालीनाः एकमेव नायकं कर्मत्वेनान्वेतुं शक्नुवन्ति वा नेति।

यं विना न रमसे, यं मृगयसे, यमालिङ्गसि यं ध्यायसि, तमेकं स्तुमः, वा तं तं स्तुमः। तत्र क्रियाया व्युत्क्रमेणोपादानात् रमणानन्तरं मार्गणं, आलिङ्गनान्तरं प्राप्तिचिन्तनं नैकं नायकं निवेदयन्ति। अन्यथा मार्गणध्यानालिङ्गनरमणेति क्रमः व्यापाराणां स्यात्। अतो वहुनायकविषयकबहुव्यापारोपादानं नायिकाया अनेककामुक-विषयकमभिलाषं व्यनक्ति।

वेश्यायामप्येकेन सह रमणाद्यनन्तरमेवापरस्यान्वेषणरमणादिर्विहितः। न तु सहैवानेकेषामिति वहुनायकनिष्ठत्वेन रसाभासः विहिताचारविघातत्वात्। अत्र लोकव्यवहारानौचित्यं नास्ति।

स्थावरतिर्यगादियोनिष्वारोपाद् रसाभासो यथा-

संभोगाभासः -

गुच्छस्तनी रक्तप्रवालिताधरा
मनोहरा क्षीणतनुः सुमस्मिता।
समालिलिङ्गे तरुणा विनम्र
शाखाभुजाभ्यां कलिकालिका लता।। १३६।।

अत्र गुच्छादिषु स्तनाद्यारोपाद् रसाभासः।

वियोगाभासः -

सदागते ! दक्षिण ! निर्जनस्थां
प्रतानिनीं धूलिकणाक्तदेहाम्।
पाण्डुच्छदां शुष्कविशीर्णहासां
सम्भावय त्वद्विरहातुरां ताम्।। १३७।।

तिरश्चोः सम्भोगाभासो यथा -

निरुध्य पद्मैकमहार्हतल्पे गुञ्जद्द्विरेफोऽस्तरवौ प्रियां स्वाम्।
मदोन्मदां रात्रिप्रजागरं तौ दिवाप्यकम्पेन विनेदतुः स्फुटम्।। १३७।

नायकवद्व्यवहारदर्शनात् संभोगाभासः।

विप्रलम्भाभासो यथा-

आत्मानमाच्छाद्य विटङ्कितान्तरा
गूढं कपोतं न विजानती प्रिया।
ग्लाना चुकूज क्षणमस्थिरा पुरः,
कुटुम्बलोकं न चिनोति सा मनाक्।। १३८।।

लक्षणे 'योनिषु' इति बहुवचनान्तपदोपादेन निशाचन्द्रमसोरपि-ग्रहणं कार्यम्। अन्यथा द्विवचनान्तमेव साधीयः स्यात्।

तत्र **निशाशशिनोर्नायकत्वाध्यारोपात् सम्भोगाभासो** यथा -

ताराङ्कितव्योमकचां समीक्ष्य सन्ध्यारुणोष्ठां रजनीं स्मयन्तीम्।
रक्तेन्दुराकुङ्कुमिताननाब्जां सरोजकोषार्धदृशेक्षते ताम्।। १३९।।

भावाभासानामपि रसाभासवत् सर्वे प्रभेदा भवन्ति- यथा **अनौचित्येन एकतररतिनिष्ठत्वेन** -

आलोक्यारमणीयराजललनाकोटिप्रभाभास्वरां
सैरन्ध्रीं निजवेश्मनि स्वविरतां कामातुरः कीचकः।
चक्रं नो समवेक्षतेऽधिशयनं लुण्ठन् हृदा शोचति
सा मां स्वीकुरुतां कथं भुजलताबन्धेन रत्या स्वयम्।। १४०।।

विहिताचारविघातत्वेन तु सकलजगद्गुरोर्भगवतो रामचन्द्रस्य भार्यायां रावणस्य **चिन्तादेर्व्यञ्जनाद् भावाभासता** यथा -

तन्नाम्नि श्रुतिमागते जडयति स्वान्तं सुखान्तर्मुखं
धैर्याय प्रभवाम्यनेहसिलवं नेतुं न दीर्घश्वसन्।
तत्सौख्याय करोमि किं कथमहो तस्याः प्रसादं लभे
इत्याकल्पनयाचितेन्द्रियगणो निद्राति नो रावणः।। १४१।।

स्थावरादिष्वारोपाद् भावाभासता यथा -

उन्मदा घोरगर्जन्तो तमोव्याप्तदिगन्तराः।
पुरः प्रभञ्जनं दृष्ट्वा क्षणं न तस्थिरे घनाः।। १४२।।

घने, रणे कातरणां व्यवहारस्फूर्त्या आवेगो ध्वन्यते।

तिर्यग्गतो भावाभासो यथा -

दृष्ट्वा पिनद्धकुसुमं तव केशपाशं
गन्धोपधावितसमुत्सुकितालिपुञ्जम्।
बर्ही विहाय पृथिवीं घनपत्रवृक्षा
लीमुत्पपात निविडान्तरितुं वपुः स्वम्।। १४३।।

अत्रारोपितलज्जाया ध्वन्यमानत्वेन भावाभासता। एवमेव चन्द्रादेरपि -

कलाललामनिवासं तव जीवनदस्मितमास्यमालोक्य।
जिह्रन् मेघान्तर्धिस्ववपु र्निलीयते कलाङ्कः।। १४४।।

अत्र दैन्यं व्यज्यते।

भावशान्त्यादिः

भावशान्तिभावोदयभावसन्धिभावशबलतानां चतुर्णा ग्रहणं भावध्वनावेवेति केचित्। तत्रायं हेतुः यद् भावानामभिव्यङ्ग्यत्वे शान्त्यादीनां वाच्यत्वेऽपि चमत्कारोदयाद् भावानामेव प्राधान्यं न तु शान्त्यादीनाम्। चेत् शान्त्यादीनां प्राधान्यं स्यात्, तदानीं भावानां वाच्यत्वे शान्त्यादीनां व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदवश्यमनुभूयेत तच्च नानुभूयते अतः अत्रापि भावध्वनित्वमेव। तदपरे न सहन्ते। भावशान्त्यादिपदेषु उत्तरपदस्य प्राधान्यात् शान्त्यादीनामेव प्राधान्यं यथापदार्थं सिद्ध्यति न तु भावादीनाम्। यदुच्येत भावादीनां वाच्यत्वेऽपि कथं न चमत्कारः, तदविचारितम्। पूर्वमेवोक्तं भावानां सर्वथा व्यङ्ग्यत्वमेव, वाच्यत्वे भावत्वमेव नास्ति, कथं च गुणीभूतत्वेन स्थितस्यापि भावस्य भावशान्त्यादौ वाच्यत्वमीहते। शुद्धभावस्तु स्थायिनो विरोधाविरोधेनोदैति यातिचेति क्षणिकत्वं तेषाम्। भावशान्त्यादीनां तु तेषां स्थितिमत्वम्। स्थितौ सत्यामेव भावयोः सन्धिः भावानां शबलता, भावस्योदयः, किमुत प्रतियोगित्वेन भावशात्यामपि भावस्य स्थितिमत्वमस्ति। अत उक्तं मम्मटेन 'अत्र वितर्कौत्सुक्य-

मतिस्मरणशङ्कादैन्य धृतिचिन्तानां शबलता। भावास्थितिस्तूक्ता उदाहृता च। इति यत्तु वामनीटीकायाम् काव्यप्रकाशस्य- ''ननु भावस्य शान्त्यादिवत् स्थितिरप्येकावस्था संभवति सा कथं पृथक् नोक्ता इत्यत आह भावस्थितिरिति। उक्तेति। ''व्यभिचारी तथाञ्जित:'' इत्यनेन सूत्रेण उक्तेत्यर्थः। उदाहृता ''जाने कोप पराङ्मुखी'' 'इत्यनेनोदाहरणेन। अयं भाव: प्रशमोद्यवस्थाचतुष्करहितो भाव एव भावस्थिति:। सा पूर्वोपस्थितेन भावेनैव गतार्थेति यदुक्तं', तदविचारित'' रमणीयम्।

यत्तु पण्डितराजेनोक्तम् -

'निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्या:।
चिरापराधस्मृतिमांसलोपि रोष: क्षणप्राधुणिको बभूव'।।

इत्यादावपि भावप्रशमध्वनित्वापत्ते:, भावस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानस्य तत्प्रशमस्य व्यङ्ग्यत्वात्'' इति तन्नोचितम्। रोषामर्षयो: प्राय: सामान्यविशेषात्मकत्वात् रोषेणामर्षोऽभिव्यक्तोऽपि वाच्य एव। वाच्योऽमर्ष: रोषो वा न भावत्वमवगाहते। सर्वथा व्यङ्ग्यत्वे एव भावत्वमाचार्यै: स्वीकृतम्। अतोऽत्र कापेयकलीलैव पण्डितराजेन दर्शिता।

यदग्रेऽपि - इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्- यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम् अमर्षादित्वमेव वा प्रकार: अन्यत्र तु प्रशमावस्थात्वादिरपीति। एतदपि नोचितम्। नहि स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वं शुद्धामर्षादित्वं भवति अपितु सन्ध्याद्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्। एषु चतुर्ष्वेव भेदेषु भावस्य स्थितत्वात्।

अत: उदाहरणानि- **भावशान्तिर्यथा** -

आश्रुत्य गोत्रस्खलनं प्रियस्य पराङ्मुखी कापि घनाघनध्वने:।
विस्मृत्य तूर्णं सहसालिलिङ्ग सा प्ररूढरोमाञ्चनिवेशितोरसा।१४५।

अत्र गोत्रस्खलनविस्मरणेन कोपशान्तिर्व्यज्यते। क्त्वा ल्यप्प्रत्ययाद् भावशान्तेर्गुणभूतत्वञ्चेत्तर्हि एवं परिवर्तितव्यम्।

"तूर्ण विसस्मार समालिलिङ्ग सा भीत्या सरोमाञ्च निवेशितोरसा"। अत्रभीतेरुपादानान्न भावत्वम् तस्याः।

भावोदयो यथा -

विपक्षरमणीगेहादञ्जनश्यामलाधरम्।
प्रियं वीक्ष्यारुणाभाभिर्नेत्रकोणे ररञ्ज सा।। १४६।।
अत्र कोपोदयः।

भावसन्धिर्यथा -

सविंशतीक्षणदशवक्त्रभीषणे दशानने, राजस्वयंवरे रघौ।
तपःपराक्रम बलशीलसागरे, मिमील सीतानयनं चकास च।। १४७।
अत्र त्रासहर्षयोः सन्धिः।

भावशबलता यथा -

सङ्ग्रामेऽग्न्युपवेशनं किमु विहायास्त्रं, क्व दृश्येत स
क्षत्राणां हि जयद्रथोऽधमतमो, दोषाय किं नः श्रुतम्।
किं हन्याम न पुत्रघातिनमिमं वक्ष्यन्ति किं सत्यपाः,
कौन्तेयस्य रवौ गतेऽस्तमवशं चित्तं प्रतिज्ञावतः।।१४८।।

तादृशप्रसिद्धमस्त्रं गाण्डीवं विहाय रणस्थले वह्निप्रवेशरूप-प्रायोवेशनं किमु इति खेदे, दैन्यं खेदो वा व्यज्यते। क्व दृश्येता-धमतमः इति रोष आवेगो वा। दोषाय किंनः श्रुतम, अस्तगते सूर्ये सूर्यास्तंगमनात् प्राक् तद्वधं प्रतिज्ञातस्य ममान्यथा करणे, श्रुत्य-ध्ययनं दोषयेति मतिः, किं हन्याम नेत्यादिना वितर्कः, सत्यपाः किं वक्ष्यन्ति इति शङ्का, इत्यादिना सर्वे भावा अविनश्यदवस्थाः शबलिता इति भावशबलता। चित्तस्य निर्णयासमर्थत्वादवशत्वमिति। अतः दैन्यावेगमतिवितर्कशङ्कानां शबलता।

अतएवोक्तं काव्यप्रकाशटीकाकारैः 'उत्तरोत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्दः शबलता' इति। यथा जनानां स्थितौ सत्यामेव जनोपमर्दो लोके ख्यातस्तथैवात्रापि पूर्वपूर्वभावस्य स्थितौ सत्यामेव उत्तरोत्तरेण भावेनोपमर्दः सम्भवति। अतः उपमर्दपदस्य स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानो नाशः न ग्राह्यः, तथात्वे सति न

चमत्कार:। अत उक्तम्- रसगङ्गाधरे -

नारिकेलजलक्षीरसिताकदलिमिश्रणे।

विलक्षणो यथा स्वादो भावानां संहतौ तथा।। इति

सन्दर्भा:

---

1. अधिकार ७ आदि
2. अभिनवभा. प्र० ३
3. अभिनवभा. मा० प्र० ५
4. अ० ६/८ तथा १०
5. र. ग. धर. प्रथमा
6. १ म प्रकाश ५१०
7. ना. शा. अ० १८ श्लोक ३५
8. अ० १८/३३
9. ना० शा० अ० १९/११६
10. ना श अ० १९/११५
11. रसगङ्गाधर
12. ध्वन्यालोक द्वितीयउद्योते का० ४ लोचन
13. अभिनवभारती षष्ठोऽध्याय:
14. रत्ना० २/११
15. ना० शा० अ० ७–१०
16. अभिनवभारती 'यथोक्तम्' किञ्चिद्दहि प्रमाणेनोपलब्धेंनिरस्तप्रवाद: इति।
17. अभिनवभारती-एतदेवोक्तम् नटगता चित्तवृत्ति: .... अनुकारजपा (पु प) पुञ्जें। इति।
18. अ० पृ० २७४–यथोक्तम्–नन्वक्रुद्धोऽपि वाचोयुक्ति: ।।
19. अभिनवभारती–यथोक्तम्– यच्चोक्तं .... रूपमित्यायातम्।
20. अभिनवभारती पृ० २७४–यदुक्तम्–"यच्चोच्यते ...... रस इत्यसत्।।
21. पृ० २७४–२७५–यथोक्तम्– न चापि नटस्येत्थ ... तस्मात्भावानुकरणं रसा इत्यसत्।

22. अ० भा० पृ० २७५
23. अभिनवभारती—यथोक्तम् ....आम्मापसिद्धेंआमनान्ति।
24 . अभिनवभारती
25. यथाहि रात्रिमासतें वासनासंवादात्। पृ० २७७—२७८
26. रम्याणि वीक्ष्येंजननान्तरसौहृदानि
27. सा चाविघ्नासंवितें्तदारोपरुपा ।। पृ० २७८—२७९
28. तथैवे .... रस: ।। पृ० २७९
29. काव्यानुशासन अ० २ पृ ७४
30. यथोक्तम्— तत्रानुभावानां ....संयोग उपात्त:
31. तदर्थम्—तत्र लोकव्यवहारे .... स्थायिलक्षण एव रस:"। पृ०२८२ इति प्रघट्टकमुपात्तम्।
32 . अभिनवभारती पृ० २८२—यथाशङ्कुकादिभिरभ्यधीयीत .... विलक्षणएव।
33. अभिनवभारती पृ० २८३— अत: उक्तम् तथाहि— लौकिक विभावादिभिरिति।
34 अ० भा० पृ० २८३—२८४
35 . अ० भा० पृ० २८५—यथोक्तम् —एवं द्वयप्राधान्येंरामोऽयमिति—दग्रत:।
36. को दृष्टान्त: ! अत्राह: — यथा हि नानाव्यञ्जनौषधि द्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्ति— स्तथा नानाभावोपगमा द्रसनिष्पत्ति:। यथा हि गुणादिभिव्र्यञ्जनैरौ षधिभिश्च षाडवादयो रसानिर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भवा रसत्वमाप्नुवन्तीति।
37. नाट्यशास्त्रस्त्रमूले — रस इति क: पदार्थ:। उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रस:, यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादपन्ति सुमनस: पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावाना स्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका हर्षादींश्चा—धिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याता:।
38. बहुद्रव्ययुतैव्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्। आस्वादयन्ति भुज्जाना भक्तं भक्तविदो जना:।। भावाभिनयसम्बद्धा (न्) स्थायिभावास्तथा बुधा:। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसा: स्मृता:।। नाट्यशास्त्रमूले ६/३२—३३
39. नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमीभावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि:।।

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैःसह।।
न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्पर कृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।।
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रससाश्चैव भावयन्ति परस्परम्।। इति नाट्यशास्त्रे ६/३४–३७

40. इत्यानन्दवर्धनाचार्येण ३/४३

अभिधावृत्तिनिरूपणम्

संकेतितार्थस्य साक्षात्प्रतिपादकत्वमभिधा। प्रतिपादकत्वमभिधा–नम्। "साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः इति मम्मटः। 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा' इति दीक्षितः। शब्दस्यार्थगतः अर्थस्यशब्दगतः सम्बन्धविशेषोऽभिधा इति पण्डितराजः।

धर्म कञ्चित्पुरस्कृत्य प्रायः शब्दः प्रवर्तते।
यथार्थः स्पष्टमाचष्टे शब्दस्तामभिधां विदुः।।
जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया।
निर्देशेन तथा प्राहुः षड्विधामभिधां बुधाः।।
गौर्नीलः पाचको दण्डी डित्थः कंस इति क्रमात्।
कंसंहिनस्ति कंसारिर्निरं च कं समाश्रितम्।। इति जयदेवः।

इत्यादिभिर्लक्षणैराचार्या अभिधास्वरूपं प्रत्यपादयन्।

करणाधिकरणार्थकक्तिन्प्रत्ययो वृत्तौ गृहीतः। तत्राभिधा-वृत्तेर्व्यापाररूपत्वात् करणार्थकक्तिन्प्रत्ययं स्वीकृत्याभिधादिषु वृत्तिपदप्रयोगः। वृत्तिनिरूपणप्रसङ्गे प्रतिपादकत्वपदेन प्रतिपादक-शब्दनिष्ठा प्रतिपत्तिहेतुरूपा काचिद्वृत्तिः स्वीक्रियते। यद्यपि प्रतिपादकशब्दनिष्ठज्ञानकरणकता, शाब्दबोधे भवति किन्तु पदार्थोपस्थितौ वृत्तेरेव करणता। अतः प्रतिपादकनिष्ठशाब्दबोधा-र्थोपस्थितिसम्बन्धिकरणत्वात्मधर्मद्वयं लभ्यते। तत्र शाब्दबोध-करणतावारणाय 'शक्त्या' प्रतिपादकत्वमिति श्रीमदप्पय्यदीक्षिते-नोक्तम्। शक्तिस्तु साक्षात् सामर्थ्यम्। साक्षात् सामर्थ्य तु, पदे व्याकरणोपमानादिना जायते। यथोक्तम्–

शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत: सिद्धपदस्य वृद्धा:।।
अत: मम्मटेनापि–
साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचक:।
संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।।'' इति।

संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति शब्दगतोऽर्थ-प्रतिपादको व्यापारोऽभिधा। पदगतोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुकरणता शाब्दं प्रतिपादयितुम्। इत्थं शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधेति।

पण्डितराजेनात्रासंगतिरात्माश्रयश्च दोषद्वयं दर्शितम्। तत्रोक्तम्– ''इह शब्दाज्जायमानायामर्थोपस्थितौ कारणीभूतं यदीयज्ञानं सा शब्दवृत्तिरभिधाख्या लक्ष्यतया प्रस्तुता''। प्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दगतस्य न ज्ञानं प्रतिपत्तौ कारणम् अत: कथं नाम प्रतिपाद-कत्वमभिधेति उच्यते''। इत्यादिनासंगतिर्दर्शिता। अत्र यदीयज्ञानं सा अभिधेति यदुक्तम्, तत्र पृच्छ्यते ज्ञानमभिधा वा ज्ञानहेतु:। चेन्न ज्ञानमभिधा अपितु यदीयज्ञानमिति यत्पदेन निर्दिष्टस्य तदाभिमर्शस्तदानीमभिधासम्बन्धि कीदृशं ज्ञानमभीष्टम् ? शब्द-स्वरूपात्मकं वा तदर्थात्मकम्। अभिधासम्बन्धि उभयात्मकमपिज्ञानं शब्दादर्थोपस्थितौ न कारणीभूतम्। अत: शब्दादर्थोपस्थितौ, अर्थप्रतिपत्तिहेतुरूपो यो व्यापार: साऽभिधेति वक्तुं प्रस्तुता।

इत्थं प्रतिपादकत्वस्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दस्यैवार्थप्रतिपत्तौ कारणम्। यश्चात्माश्रयो दोष: सोऽपि न घटते। यतो हि पूर्वं, शक्ति: संकेताभिन्नेति प्रतिपादिता न च संकेत एवाभिधा अपितु संकेतसहाये शब्दे अर्थनिरूपिताभिधा। इत्थं लक्षणे शक्त्यतिरिक्तैवा-भिधेति नास्त्यात्माश्रयदोष:। न च ''धान्येन धनवान्'' इत्यादिवत् शक्त्या:प्रतिपादकत्वात्माभिधायाश्च सामान्यविशेषभाव:। सामान्येन लक्षितस्य लक्षणस्य न विशेषलक्षणत्वम्। अतिव्याप्तिप्रसङ्गात्। मुकुलभट्टाभिहिताभिधाया वारणाय शक्त्येति। तदग्रहणे न तावन्मुख्यार्थमात्रप्रतिपादकत्वस्याभिधाया लक्षणसम्भव:। यत्तु शक्त्यभिन्नप्रतिपत्त्यनुकूलो व्यापारोऽभिधेति नागेशेनोक्तम् तत्रापि

शक्तिपदेन संकेतात्मप्रतिपत्तिमच्छब्दार्थानुकूलोव्यापारो ग्राह्य:। अथवा शक्त्यभिन्नप्रतिपत्तिरर्थोपस्थितिस्तदनुकूलो व्यापारोऽभिधेति।

गौरतिशब्द: गौरित्यर्थ इत्यादिना तथा च 'स्वं रूपं शब्दस्ये' त्यादिना शब्दस्य स्वार्थस्वरूपयोरुभयोर्ग्रहणं क्रियते, तेन शब्दस्य शब्दगता, अर्थस्यार्थगता शब्दस्यार्थगता अर्थस्यशब्दगतेति चतुर्धा-भिधा प्रतिपत्तुं शक्यते। तत्राद्यस्य डित्थादिर्यदृच्छाशब्द:। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। संज्ञिषूपाधित्वेन यदा सन्निवेश्यते तदानीं शब्दस्यार्थगत:। चतुर्विधेषु संकेतितार्थेषु शब्दस्यार्थगताभिधा मन्तव्या।

अर्थस्यार्थगता अभिधा, अर्थशक्तिरूपा। यदा अभिधा-मूलार्थशक्त्युत्थो ध्वनिर्भवति तदानीं वक्तृबोद्धव्याद्यर्थेन पूर्वं वाच्यार्थे सामर्थ्यमुत्पाद्यते तदानीं वाक्यार्थो, वाच्यार्थो वा कमप्यर्थमभिव्यङ्क्त:। अत: उक्तं आचार्यमम्मटेन-

'अर्थशक्त्युद्भवोप्यर्थो व्यञ्जक: सम्भवी स्वत:' इति। अर्थस्य शब्दगतस्तु 'कं संहिनस्ति कंसारिर्निरं च कं समाश्रितम्। कं संहिनस्ति इति वाच्यस्य कंसारिरित्यत्राभिधा। कंसरि: कं संहिनस्ति इति कृते प्रश्ने, कं समाश्रितं नरम् इति वाच्यार्थस्य नरकं, नरकासुरमिति शब्दे अभिधा तथा च कमाश्रितं सम् इति वाच्यस्य कंसमिति शब्देऽमिधा। इत्थं सर्वमनुसन्धाय जयदेवेन चन्द्रालोके निर्दिष्टम्-

जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया निर्देशेन तथा प्राहु: षड्विधामभिधां बुधा:। इति।

पण्डितराजेन - शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगत: शब्दस्यार्थगत: सम्बन्धविशेषोऽभिधा इति लक्षणं कृतम्।

तत्र प्रष्टव्यम् - अर्थस्यशब्दगत: सम्बन्धविशेष: कीदृश:। शब्देन वाक्यं गृहीत्वा, वाक्यार्थस्य वाक्यगत: सम्बन्धविशेषोऽ-भिधेत्यन्विताभिधानवादिनां मतेनाभिधा लक्ष्यते चेत्तदानीं त्रिविधा-भिधाया उदाहरणत्वेन दर्शितानां डित्थ-पाचक, पङ्कजादीनां कथमनुकूलत्वम्।

पदार्थमात्रे चेत् तदानीं सान्तरार्थतटनिरूपितगङ्गानिष्ठलक्षणायाम-तिव्याप्ति:। तस्या अपि सम्बन्धविशेषत्वात्। अर्थनिष्ठत्वाच्च।

मुख्यार्थविषये यः संख्याभेदआचार्यैर्निर्दिष्टस्तत्र महाभाष्यस्य 'गौः शुक्लश्चलोडित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरि'ति मूलमस्ति अत्राचार्यमम्मटेन चतुष्टयी चतुरवयवात्मिका प्रवृत्तिरुपाधिरिति कृत्वा उपधेयस्यैकस्यैव कृते चत्वार उपाधयो निर्दिष्टाः। तथा च जातिपक्षे प्रवृत्तिः जातिः। जातिगुणक्रियायदृच्छादि-चतुष्टयशब्दानां तद्तद्गतत्वेन भिन्नाऽपि जातिर्नाम्ना एकैवेति इति चतुष्टयी जातिः।

आचार्यजयदेवेन 'इत्यादौ' पदस्यादि पदेनोक्तातिरिक्तसंज्ञा-निर्देशयोरपि ग्रहणं कृतम्। अत्र प्रवृत्तिरभिधास्ति। तथा च प्रत्येकं जात्यादौ अभिधा गृहीता। मुकुलभट्टेनापि दशधाभिधानिरूपणप्रसङ्गे चतुर्षु विभक्ततयैवाभिधा निरूपिता।

एतेषु यया शक्त्या अभिधा प्रवर्तते सा सिद्धधर्मात्मवस्तुषु संज्ञासु च केवलसमुदायात्मिका साध्यधर्मात्मवस्तुषु केवलावयवात्मिका तथा च वस्तुयोगात्मवस्तुषु उभयात्मसंकरात्मिका निर्देशात्मिकेति। एतेष्वाद्यायां गौः शुक्लः डित्थादीनां ग्रहणम्। तत्र केवलं समुदायशक्तेः सद्भावादवयवशक्तेरभावात्। न च 'गौः' पदस्य 'गमेर्डो' इत्यादिना व्युत्पादनात् गच्छतीतिगोरिति अवयवशक्तेरुल्लासः कल्पनीयः, शयितायां गवि तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तस्याभावात्। न केवलं व्युत्पत्तिमात्रेणैव तत्रावयवशक्तेरुल्लासो मन्तव्यः। डित्थादावपि डिम्भेषु तिष्ठति' इति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयत्वेन व्युत्पादयितुं शक्यत्वात्। अतश्चोक्तमभियुक्तैः 'अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तमन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तमिति।' अतः शब्दानां प्रवृत्तौ तु केवलसमुदाय-शक्तेरुल्लासः स्वीकर्तव्यः।

द्वितीयायां तु चलः, पाचकः पाठकः। पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः साध्यधर्मः। अत्र चलतीति पचतीति चलः, पाचकः, इत्यदिशब्देषु धातुप्रत्ययबोध्ययोरर्थयोरन्वयेनैवोल्लासाच्चलनपाक-कर्तृत्वरूपोऽर्थोऽभिधीयते। अतोऽत्र केवलावयवशक्तिः। तृतीयायां तु दण्डी, पङ्कजं इत्यादय उदाहरणानि। अत्र वस्तुयोगेनाभिधा-प्रवर्तते। दण्डः, अस्ति अस्येति विग्रहेण सर्वदण्डग्राहिषु नरेषु अभिधावारणाय दण्डग्राह्यतिरिक्तस्य केवलस्य सन्यासिनो ग्रहणं

क्रियते। अतः प्रकृतिप्रत्ययावयवशक्तिवेद्यानां दण्डग्रहणकर्तृणामाकाङ्क्षादिवशादन्वये जाते दण्डग्रहणकर्तृरूपादर्थादतिरिक्तस्य सन्यासिनः प्रत्ययेन तदर्थं समुदायशक्तेरपि कल्पनादुभयोः संकरः। एवमेव पङ्कजेऽपि पङ्कजनिकर्तृरूपात्शैवलाद्यर्थादतिरिक्तस्य पद्ममात्रस्य ग्रहणदवयवसमुदाययोरुभयोः शक्त्योरुल्लासात् संकरो मन्तव्यः। यत्रार्थस्य शब्दगताभिधा तत्र यौगिकरूढनाम्ना गृह्यते। कंसारिः कं हिनस्ति इति प्रश्ने नरमाश्रितं कं (हन्ति)।

अत्र नरमाश्रितं कं, (अहन्त्वं) इति नरकं योगः, नरकमिति असुरे रूढिः। यदा नरकमिति अभिधीयते तदानीं नराश्रिताहन्त्वस्यानन्वयात् नरकासुरे न तावत् तृतीयायाः शक्तेरुल्लासः। यदा नरकमिति असुरो गृह्यते तदानीं रूढेः साम्राज्यात्। अश्वगन्धां पिबेत् अश्वगन्धा वाजिशाला इत्येकस्यैव पदस्य पिबेत्-वाजिशालेतिसन्निहितपदाभ्यामुपगतार्थस्यैव अभिधा तत्र तत्र प्रसज्यते। अतोऽत्र निर्देशेनेति जयदेवोक्तेनाभिधाप्रसक्तिः मन्तव्या। इत्थं चतसृष्वप्यभिधासु शब्दस्य शब्दगता अर्थस्यार्थगता चेत्युभयोरतिरिक्तभ्यां शब्दस्यार्थगताऽर्थस्य शब्दगतेत्युभयोः क्षेत्रं साहित्यशास्त्रे विशेषेण निरूपितप्रायं लभ्यते। अतोऽतिरिक्तमेतयोः क्षेत्रमपि निर्दिश्यते।

श्लेषस्थले अनयोरेवाभिधयोरुल्लासः। तत्रार्थस्य शब्दगताभिधा अर्थभेदेन शब्दभेद इति न्यायाद् वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा- प्रकृति-प्रत्यय-विभक्तिवचनानां भेदादष्टधा। तथा च मम्मटोक्तार्थश्लेषस्य विषयो यत्र

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च।।

इत्युदाहृतम्। एतत् सर्वं मन्तव्यम्। अर्थस्य शब्दगतत्वेऽभिधायां हेतुः व्याकरणोपमानादिः सर्वोऽपि ऋते कोषात् संकेतग्राहकः।

एतेषु पदश्लेषो यथा — ममैव —

जननीरागहेत्वन्तर्मोदमाराधनाक्षमं।
रसान्तरार्थसम्बद्धमावयोर्वचनं समम्।।

जनानां नीरागहेतु, अन्तर्मोदमाया (लक्ष्म्याः) आराधनेऽक्षमं,

रसान् अन्तरा येऽर्था तैःसम्बद्धम् मे वचः, तथा च जनन्या जगन्मातूरागहेतु, अन्तर्मोदमाराधनायां क्षमं, रसां धरामन्तरा, लोकोत्तरा ये अर्था तैः सम्बद्धं, तव वचनमिति।

पदश्लेषौ यथा –

जलागाधान्तरतलं सदाहंसाश्रितं चलम्।
मानसं मेऽनपापं ते सदृशं हिमवतः ध्रुवम्।।

मे मानसं जडमगाधान्तरतलं यस्येति तत्। डलयोरभेदात्। सदाहं साश्रितं चलं अपापरहित सपापमिति। तथा च हिमवतः मानसं (मानसरोवरः) जलेनागाधान्तरतलं हंसाश्रितं नापगता आपः अस्य, तत्, अनपापं, सर्वथा सजलमिति पदश्लेषः।

वर्णश्लेषो यथा – ममैव –

मनो निर्विण्णं सन्ननुपमसमाधिप्रणिहितं
निमीलन्नेत्रान्तर्भवमधुररूपापरिचितम्।
समद्रौ संवासाद् भवति विवुधै,र्वन्दितपदः
शुक ! स्थाणोः कस्मात्तव नहि भवेद् धेहि विधृतिम्।।

निर्विण्णं क्लेशात्। समाधिर्मनोव्यथा तया निमीलननेत्रान्तस्त्वेन सांसारिकवस्त्वर्थानभिज्ञं, समद्रौ सामान्यवृक्षे इति शुकपक्षे। तथा च स्थाणुशिवपक्षे, समद्रौ सत्पर्वते कैलासे। अत्र द्रु, अद्रि, इति प्रकृतिकयोः, सप्तम्यामेकमेव रूपम्।

लिङ्गश्लेषे यथा – ममैव

राधारक्ताभपादाश्रयणसमयिनी भास्वारानन्तरश्मि
प्राग्भारालोकभानुं स्फुरदमलदलद्दर्शनाद् धारयन्ती।
सर्वब्रह्माण्डकाण्डप्रसवशिवसमाधारभूते हिताप्तौ
तप्तानां शर्म सद्यः गुरुहृदि तनुतां दृग् हरेर्वाऽथ पद्मे।।

अत्र हरेर्दृग् राधाचरणसमयिनी विमलस्फुटावलोकनेन भानुं सूर्यं धारयन्ती, सूर्यमयीति, ब्रह्मशिवयोराधारभूता, तप्तानां दुःखदुर्भरचित्ते अभिलषिताप्तिविषयकं सुखं तनुताम् विस्तारयतु। तथा च पद्मे, पद्मापद्मरूपे, पद्मे, पद्मापिक्षे राध्नोति कार्यमिति राधादिपदं बोद्धव्यम्। द्वयोरपि पद्मयोः नपुंसकमनपुंसकेनेत्यादिना नपुंसकानुसारिलिङ्गवचनादिः। अतः नंपुसकस्य द्विवचने समयोऽस्ति

अनयोरिति समयिनी, द्वेऽपि, भानुं (चन्द्रं सूर्यं वा) धारयन्ती 'हिताप्तौ' आधारभूते चेति शर्म सुखं तनुताम्, परस्मैपदे द्विवचनस्य रूपम्।

प्रकृतिश्लेषो यथा ममैव

देयादनुपमां शक्तिं सुहृदांदुर्हृदामयम्।
श्रीलो विद्वद्वरेभ्यश्च मुग्धेभ्यः स्यान्नृपः सुधीः।।

अत्र, देयादिति दा दाने दोऽवखण्डने, तथा श्रीलेत्यत्र ला आदाने, लीङ्श्लेषे, श्लेषणं प्रच्छादनमिति। उभत्र प्रकृत्योः श्लेषः।

प्रत्ययश्लेषो यथा – ममैव–

भास्वत्सूर्यसहस्रभास्वरपदाङ्गुल्युत्कटोपासनात्
उद्यच्चन्द्रविनिःसरत्प्रभलसद्गण्डाननालोकनात्।
गौरि ! स्यान्नमिता यशःप्रमदभा सम्पत्सुखाधायिता
लोकालोकमहाद्रिमूर्धविधृताम्भोजाङ्घ्रिधूलीकणे !।

अत्र नमितृ आधायितृ इति तृच् प्रत्ययान्तस्य सुविभक्तौ नमितादिपदम्। स्याम् इति उत्तमपुरुषैकवचने। तथा च नमोऽस्ति अस्येति णिनिप्रत्यये, नमी तस्य भावो नमितेति, व्युत्पत्या मे प्रणामादिस्तवचरणयोः स्याद् इति बोद्धव्यम्।

अत्र स्यात् स्याम् इति तिप्मिपोस्तथा च नमितादौ तृच्तलयोः प्रत्यययोः श्लेषः।

विभक्तिश्लेषो यथा ममैव–

गोपाय भवसर्वस्वं दातास्यन्यज्जगद्धर।
आयासि निखिलं तेजःप्रतापेनैव वर्तनम्।

अत्र भवसर्वस्वं रक्ष तेजःप्रतापेनैव क्रौर्याग्निप्रकृष्टतापेनैव आयासकारि वर्तनं आचरणं, धर धारय, जगत् दातासि खण्डयितासि, श्वः एव खण्डयिष्यसीति। हर– हरणं कुरु।

तथा गोपाय श्रीकृष्णाय भवसर्वस्वं दाताऽसि भक्त्या समर्पयिताऽसि अन्यद् वशीभूतं जगत् धर धारय। तेजःप्रतापेनैव निखिलां स्थितिं महत्प्रतिष्ठां आयासि प्राप्नोसि इति। अत्रासत्सतोर्व्यवहारः श्लेषेण दर्शितः। गोपायेति सिप्ङेविभक्त्योः दातेति, लुटितिप्सुपोः आयासीति सुप्सिपोर्विभक्त्योः श्लेषः। तथा भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्यथा ममैव –

स्वल्पेनैवान्यतापेन पात्रजाड्येन वा समा।
द्रवतस्तिष्ठतो वृत्तिर्घृतस्य साधुचेतस:।

यत्र च शब्दस्यार्थगताभिधा तत्र नानार्थकस्थलं गृह्यताम्। कोशव्यवहाराभ्यामत्र नानार्थेषु संकेत:। संयोगादय: शब्दार्थसशयं निवार्य विशेषार्थस्मृतिमुत्पादयन्ति। यथोक्तम्—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थ: प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि:।।
सामर्थ्यमौचितीदेश: कालो व्यक्ति: स्वरादय:।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव:।

यथा रामार्जुनगतिस्तयोरित्यत्र तयोर्विरोधिनो र्विरोधवशात् विरोधितैव रामस्य परशुरामबलरामदाशरथिरामादिकार्थकस्य तथा अर्जुनस्य कौन्तेयवर्णतरुसहस्त्रार्जुनादिकार्थकस्य च नानार्थकस्य विशेषार्थे परशुरामसहस्त्रार्जुनात्मके स्मृतिरूत्पद्यते नान्यस्य तथैव रामेण प्रियजीवितेन न कृतं प्रेम्ण: प्रिये नोचितम् इत्यत्रागतस्यापि रामपदस्य केवलं दाशरथेरर्थस्य स्मारकत्वात् विशेषस्मृतिहेतुत्वम्। केवलमियानेव विशेष: यदाद्योदाहरणं शब्दार्थस्य निर्णये संशयमुत्पादयति द्वितीयं झटिति संशयमनुत्पाद्यैव विवक्षितार्थे विश्राम्यति। अत: 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे' इति विशेषणं सार्थकम्।

अनवच्छेद: संशय:। स च नानाकोटिक एव। अतो यदा नानार्थानां नोपस्थिति:स्यात्तदानीं कुत: संशय:। अत: स्पष्टमस्ति यदभिधया नानार्थोपस्थितौ सत्यामेव संयोगादीनामुपयोगित्वम्। संयोगाद्युपाधिमदभिधया विशेषार्थस्मृति: विशेषशक्यार्थबोधायेति स्पष्टम्। न च संयोगादिरेवाभिधा तदितरस्थलेऽपि तस्या: सत्वात्। अतो संयोगादिर्द्वितीयार्थस्य प्रतिबन्धक:।

अत: नानार्थस्य शब्दस्य सकलार्थानामुपस्थितावभिधया जातायां पुन: संयोगादिना एकार्थमात्रविषयाया: पदार्थोपस्थितेरन्वयबोध इत्यर्थकमेव 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव:' इति वचनम् अतो नात्राभिधया एकमात्रार्थस्मृति: नाप्यपरार्थोपस्थापनप्रतिबन्धकत्वम्। इत्थमेतदपि वक्तुं सुकरम् यत् नानार्थोपस्थितेरनन्तरं संयोगादिनैकस्यार्थस्य स्मृति: तदनन्तरं व्यञ्जनेनापरेषामर्थानामुपस्थितिरत

एवाभिधामूलत्वमस्य। अतो मम्मटेनोक्तम्-

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्।।

अनेकार्थवाचकत्वेन अर्थस्यापि ग्रहणादर्थविशेषे नियन्त्रिते तदितरार्थ एवावाच्यार्थः, तदितरार्थधीजनको व्यापारो व्यञ्जना। ननु नास्ति व्यञ्जना, तस्यापि कृतेऽभिधैवेति चेन्न। सामान्यतया नानार्थकशब्दात् सर्वेषामर्थानामुपस्थितौ तस्याः कृते उपयोगे पुनः विशेषस्यार्थस्य कृते उपयोगो न समीचीनः। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इत्यस्य जागरूकत्वात्। ननु प्रथमार्थविशेषस्यापि कृते न तस्या उपयोग इति चेत् सत्यम् किन्तु अभिधायाः साक्षादर्थ-बोधकत्वेन स्वीकृतायां साक्षात्बोधकत्वं प्रथमार्थे झटिति घटितत्वात् तयैव संग्रहकरणे लाघवम्। प्रथमवाक्यार्थबोधानन्तरं कालव्यवहित-द्वितीयार्थोपस्थितौ तदितरव्यञ्जनाया स्वीकारे एव लाघवम्। यथालक्षणं व्यवहर्तव्यत्वात्। अतएवोक्तम् पञ्चम् उल्लासे नियन्त्रणेना-नभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम्'। इति।

अतः संस्कारतदुद्बोधकयोः सत्वे स्मृतेः प्रतिबन्धस्य क्वाप्य-दृष्टत्वात्' इत्याद्युक्तिरपास्ता। नहि तावत् संयोगादेरपरार्थोपस्थितौ संस्कारः कुतः तदुद्बोधकत्वम्। अत एव पयो रमणीयमित्यादौ प्रकरणाद्यभिज्ञैरप्रकरणज्ञा बोध्यन्ते नूनमस्य दुग्धे तात्पर्य शब्दस्य न जल इति।

यत्र तु नास्ति संयोगादेर्विनियोगस्तत्राभिधयोपस्थितानां सर्वेषामर्थानां तयैव बोधे नास्ति क्षतिः। अतः श्लेषस्थले सर्वस्यार्थस्य कृते अभिधैव व्यापारः स्वीक्रियते। अतः किमयं नानार्थस्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोल्लास आहोस्वित्क्वचिदेवेत्यादिविकल्पस्योत्थानमेव निर्मूलम्। तात्पर्यज्ञानकारणता संयोगादौ स्वीकार्या न त्वभिधायां कुतो विवादः।

ननु यथा व्यञ्जनस्य भिन्नतयाव्यापारगणने प्रयासस्तथैव संयोगादेरपि कथं नेति चेत् सत्यम्, संयोगादेः साक्षात् विशेषार्था-भिधायकत्वे अभिधाया अपि तथात्वे, नानार्थेतरस्थलेऽप्यभिधायाः साक्षादभिधायकत्वे च सामान्यविशेषभावादभिधायामेव

संयोगादेरन्तर्भाव:। व्यञ्जनायास्तु तद्भिन्नस्थलेषु दृश्यत्वात् साक्षादर्थप्रतिपादकत्वाभावात् भिन्नतयोपादानमावश्यकम् अथवा संयोगादयो संकेतग्रहायोपाय इति मन्तव्यम्, यथा नानार्थकशब्दस्य कोषादिना गृहीतसंकेतस्य नानार्थोपस्थापकत्वं तथैव नानार्थकशब्दस्य संयोगादिना गृहीतसंकेतस्य विशेषार्थोपस्थापकत्वमिति मन्तव्यम्।

''हन्तैवं कृतं नानार्थस्थले व्यक्तिकल्पनये''ति यदुक्तम् तन्न। चेत् शब्दनिष्ठव्यञ्जना न स्वीक्रियते तर्हि केवलमर्थनिष्ठत्वेन अनुमितादौ कटाक्षपातादावेव गृहीताया व्यञ्जनाया स्वीकृति:, कथं तावत् शब्दार्थात्मकस्य किं वा शब्दप्राणस्य काव्यस्य वृत्तिर्व्यञ्जना स्वीकर्तुं शक्येत। केवलमर्थगतत्वेतु स्मृत्याक्षेपानुमिति-कटाक्षपातादिष्वेव केषुचिदन्तर्भाव: कर्तुं शक्यते। ''उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहमि''त्यादौ अगृहीतद्वितीयार्थ-शक्तिकस्य गृहीतविस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुंस: द्वितीयार्थ- बोधानुदयेऽपि नास्तिक्षति:, यतोहि अभिधामूलशाब्दीव्यञ्जनायां प्रथममभिधया संकेतितानामर्थानामुपस्थितौ सत्यामेव व्यञ्जनोल्लास: अन्यथार्थी-व्यञ्जनयैव सर्वस्य संग्रह: काऽवश्यकता अभिधामूलशाब्दी-व्यञ्जनाया:। यत्तुराजेन्द्रयोरुपमानोपमेयभाव एवात्र व्यञ्जनया लभ्य इत्युक्तमसकृत् तत्र पृच्छ्यते उपमानोपमेयभावे का व्यञ्जना, शाब्दी वा आर्थी। शाब्दी चेदुपमादेरलङ्कारस्य शब्दगतत्वात् शब्दालंकारा-पत्ति:। उभयोरर्थयो श्चेत् आर्थीव्यञ्जना वक्तव्या न शाब्दी। केवलं साधर्म्यमात्रस्य शब्दनिषाद्यत्वाद् नोपमाव्यवहार:। अत उक्तम् 'अर्थान्तरस्य तेनसहोपमादेरलङ्कारस्य चेति 'चकाराद्वि- द्वतीयार्थ स्यापिव्यङ्ग्यत्वमेव व्यञ्जनया आगतस्य द्वितीयार्थस्य तेन सहोपमानोपमेयभावस्यापि व्यञ्जनयैव ग्राह्यत्वं तस्या विरामाभावात् धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वात्। तथा चोपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्य इत्यपि न घटते यतोहि उपमेयं राजरूपार्थस्तथा चोपमानं गजरूपार्थो वाच्यौ, तथा च साधर्म्यमपि श्लिष्टशब्दात्मकत्वं वाच्यमत: न वक्तुं शक्यते यदयं व्यङ्ग्य:, अपि तु वाच्यालंकार एव वक्तव्य:।

अतएव शब्दशक्त्युत्थस्य संलक्ष्यक्रमध्वनेरुदाहरणत्वेनैतत् निर्दिष्टम्।

यत्तु 'न च शब्देन योऽर्थो व्यज्यते तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थव्यक्तेरूल्लासे हेतुरित वाच्यम्। निःशेषच्युत इत्यादौ रमणव्यक्त्यनापत्तेः। नह्यधमपदस्य कस्यचिद्रमणे शक्ति-ग्रहोऽस्ति इत्यादि यदुक्तं तदविचारितरमणीयम्। शाब्दार्थ-व्यञ्जनयोरेककोटौ गणनमनुचितम्। सत्येकत्वे कथं शाब्दीव्यञ्जना आर्थीव्यञ्जना चेति नामद्वयं क्रियेत। कथञ्च 'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इत्युच्येत। यथा लक्षणामूलायां लाक्षणिकशब्द एव प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनप्रतिपादने व्यञ्जको भवति तथैवाभिधामूलायामपि शाब्दीव्यञ्जनायां प्रयोजनप्रतिपादनावसरे वाचक एव व्यञ्जको भवति। अतएवोक्तं 'तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः। यत्सोऽर्थान्तरयुक् ततः। अर्थोऽपि व्यज्जकस्तत्र सहकारितया मतः'। इति

यत्तु 'जैमनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः' इत्यत्र जुगुप्सितोऽर्थः वह्निकरणकसेक इवाबोधोपहत एव स्यात्। बाधनिश्चयस्य तद्वत्ताज्ञानं प्रति. प्रतिबन्धकताया सर्वजनसिद्धत्वात्, व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोध-कत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति व्यक्तिवादिनामदोषः। मैवम् 'गामवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिब्याजात् ''सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः'' इत्यादौ वाच्यार्थान्वयबोधोपपादनायानुसरणीयेन यत्नेन नानार्थस्थलेऽपि बाधितार्थबोधस्योपपत्तिःस्यात्' इत्युक्त्तम् तत्र पृच्छ्यते कीदृशोऽनुसरणीयो यत्नः।

सौधमौलीनामर्केण सह मिलनस्यासम्भवात् समुपस्थिते बाधे सन्निकर्षसम्बन्धेन तत्सन्निकृष्टमात्रबोधोपपादनेनान्वययोग्यता जाता। जाते चान्वये सौधानामुन्नतत्वातिशयः प्रयोजनम्। जैमिनीयमलमित्यत्र जाते बाधे कीदृशी लक्षणा। लक्षणाभावे कुतोऽन्वयः। नहि व्यञ्जनयाऽन्वयः क्रियते। कथमुक्तं व्यक्तेस्तु वाधितार्थबोधकत्वम्'। प्रयोजनप्रतीतौ कुतो बाधितार्थबोधकता। बाधितार्थे लक्षणाया एव प्रसारः धर्मिग्राहकमानसिद्धः। नहि जैमिनीयमलसम्बद्धस्य कस्यचिदन्यपदार्थस्य धत्ते' इति क्रियया सहान्वयः।

बाधनिश्चयप्रतिबध्यताऽवच्छेदककोटावनाहार्यत्वस्येव शाब्दा-न्यत्वस्यापि निवेश्यत्वेऽपि न निस्तारः। नह्यत्रेष्टचमत्कारप्रयोजकता-

ज्ञानाधीनेच्छामूलाहार्ययोग्यता लभ्यते। अन्वयानन्तरं जाते बाधे कथमभिधयैव बाधितार्थप्रतीतिः। चेन्मलधारणस्याभिधयेव शाब्द-बोधस्तर्हि कथं न दोषग्रस्तत्वम्।

अत उच्यते नात्राभिधा न च लक्षणा। अयं द्विजो जैमिनीयं रसनायां अलं धत्ते इति अभिधाबोधानन्तरं पर्यवसिते च वाक्यार्थे पुनः कथमयं सम्यगादिपदं विहायालं पदमत्रोपात्तं येन 'जैमिनीयम्' इति पदेन सहसन्धौ जाते जुगुप्सितार्थः प्रतीयते। अतः वक्तृवैशिष्ट्याद् नायं जैमिनिशास्त्रज्ञः अपितु नाममात्रेण तच्छास्त्रज्ञ इति व्यज्यते। अतोऽत्र अर्थस्य शब्दगताभिधा न तु शब्दस्यार्थगता। नहि अलंपदस्य नानार्थकत्वं न च मलपदस्य, अपि तु जुगुप्सितार्थकमल-शब्दश्रवणमात्रेण बोद्धा वक्तृसाहाय्येन व्यङ्ग्यार्थो गृह्यते। अर्थस्यशब्दगतत्वेनाभिधाया, अत्र अर्थः मूलं तत्र शब्दस्य सहकारितेति सर्वथा शाब्दव्यञ्जनात्पृथगिति ध्यातव्यम्।

इत्थमर्थनिरूपितशब्दानुयोगिकत्वेन स्थिताया अभिधाया नानार्थकस्थले मूलत्वात् अभिधामूलशब्दव्यञ्जनाया विषयो द्वितीयोऽप्राकरणिकोऽर्थो व्यङ्ग्य एव मन्तव्यो नाभिधेयः। अन्यथा 'अलङ्कारोऽथवस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते। प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा। इत्युक्त्या शब्दशक्त्युद्भववस्तु-ध्वनेर्निरवकाशः प्रसज्येत। न निरवकाश इति न वक्तुं युज्यते। क्वापि शब्दशक्त्युत्थवस्तुध्वनेरदर्शनात्। ननु 'शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्' इत्यत्र नास्ति नानार्थकत्वं वस्तुध्वनिश्चात्र सुस्थिर इति चेन्न। अशनिपदं शनिभिन्नवज्राभि धायकत्वात् श्लिष्टम्। शनिभिन्नस्य यस्य कस्यचिदपि त्वत्कोपपात्राय हननक्रियायामुपयोगे वाक्यार्थबोधस्य सम्भवात्। ननु शनिप्रतियोगिका-भावस्य हननक्रियायामुपयोगो न घटते भावस्यैव 'तत्क्रियोपयोगश्चेत् सत्यम् अत एवोच्यते 'विरुद्धावपिद्वौ त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत' इति वस्तु ध्वन्यते। शनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति अशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति इति द्वावपि तं निहतः, इति वाच्यार्थ एव। अशनिपदस्य शनिभिन्नपदार्थकत्वे संकेतवत्वे सत्येव विरुद्धौ द्वौ इत्यस्य ग्रहः। इत्थमभिधामूलशब्दशक्त्यैव द्वयोरर्थयोर्वज्रशनिभिन्नयोरुपस्थितौ

सत्यामेव शनिवज्राभ्यामविरुद्धाभ्यामेककर्मकाभिहनने संवृत्ते प्रथमवाक्यार्थबोधे शनितद्भिन्नाशनिभ्यां विरुद्धभ्यामप्येककर्मकाभि-हननरूपत्वदनु- वर्तनार्थबोधाय व्यञ्जनैव समर्था। अत उक्तं विरूद्धौ द्वावपि...... इति। अत्र वस्तुमात्रं व्यज्यते। न तु रसभावादिध्वनिरपि। चेदुपश्लोक्यनृपतेः प्रभावातिशयो व्यज्यतां नाम कथमत्र वस्तुमात्रत्वमिति तन्न प्रकृतग्रन्थविरोधात्। नह्यत्र कविनिष्ठ-नृपविषयकरतिः प्रधानतयाव्यञ्जयितुमिष्टा येन भावध्वनेः प्रसङ्गः स्यात् इति। अत्र केवलं वस्तुमात्रं ध्वन्यते। वस्तुव्यङ्ग्यमादाय भावोऽपि व्यज्यतां, नास्तिक्षतिः। उक्तञ्च ध्वन्यालोके अत्रान्तरे कुसुमसमयमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाध-वलाट्टहासो महाकालः ''इत्यस्य लोचने अत्र ऋतुवर्णन-प्रस्तावनियन्त्रिता अभिधाशक्तयः। अतएव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति समाकुर्वते महाकालप्रभृतयः शब्दा एकमेवार्थमभिधाय कृतकत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वनन व्यापारादेव शब्दशक्तिमूलाद्' इति। तत्र केचिन्मन्यन्ते यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभि-धाशक्तेरेव प्रतिपत्तुः नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्ति ध्र्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलत्वं व्यङ्ग्यात्मकत्वं चेत्यविरूद्धम्''

एवमेव गुणीभूतब्यङ्ग्यस्थलेऽपि 'मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्' इत्यत्रापि विषशब्दस्य जलगरलवाचकत्वात् प्रकृतजलदे प्रथमं विषार्थजलस्यान्वयादुद्दीपनविभावत्वेन च वियोगिनीमारणसमर्थत्वात् द्वितीयार्थस्य गरलस्य व्यङ्ग्यत्वं सुतरां सिद्धम्। तच्च व्यङ्ग्यं भुजगरूपोपमाने समन्वेति। यतो हि जलदे भुजगारोपणाय साधर्म्यस्यान्वेषणदशायां शब्दसाधर्म्यमेवात्र चमत्कारि तेन विषत्वं साधर्म्यं भवति। अतः वाच्यरूपकालङ्कारनिष्पादनाय विषपदाभिव्यक्तगरलार्थस्यापि वाच्यायमानत्वम्। अत एवैक-पदोपात्तार्थानामभेदमादाय साधर्म्यं निष्पद्यते। द्वितीयार्थस्य व्यङ्ग्यत्वं न स्वीक्रियेत चेत् कथमत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं घटेत।

ननु विद्वन्मानसहंस इत्यत्रापि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं स्यात् मानसेनापि मानसरोवरस्य व्यङ्ग्त्वेन ग्रहणादिति न वाच्यम् वैलक्षण्यात्।

परम्परितरूपके एकस्यारोपस्यारोपणान्तरमुपायो भवति तद्विना परम्परितं न सिद्ध्यति। तत्र तु कृष्णत्वेन वियोगिनां भयकम्पाद्युत्पादकत्वेन वा जलदभुजगयो रूपणस्य सति सिद्धत्वे गरलस्य व्यङ्ग्यत्वे नासीत्क्षतिः, अत्र तु श्लेषस्थलवदर्थद्वयस्यापि वाच्यत्वमेव ग्राह्यम् यतो हि राजनि हंसारोपे संसर्गमर्यादया जाते आरोपस्योपायत्वेनान्यस्याप्रसिद्धत्वात् शब्दोपात्तोपायस्यैवान्वेषणबुद्धौ वाच्यत्वमवगाहतेऽपरार्थोऽपि। न च राजहंसयोरपि विवेचकत्वादिसाधर्म्यमूह्यम् व्यस्तरूपके साधर्म्यानिषादकस्य श्लिष्टस्य पदस्य समस्तत्वम् समस्तरूपके साधर्म्यनिषादकश्लिष्टपदस्य व्यस्तत्वमि त्युभयोर्वाच्यव्यङ्ग्यस्थलयोर्भिन्नत्वादुभयोर्भिन्नत्वं मन्तव्यम्।

नानार्थकस्थलेऽभिधेयार्थबोधाय येषामन्यार्थनियन्त्रणत्वेन विशेषार्थस्मृतिहेतुत्वं ते संयोगादयः के किंल्लक्षणाश्चेति विचार्यमाणे काव्यप्रकाशे इत्थं निर्दिष्टम्।

संयोगो विप्रयोगश्च साहर्चयं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

इत्युक्तदिशा 'सशङ्खचक्रो हरि' 'अशशङ्खचक्रो हरिरि'-त्युच्यते। 'रामलक्ष्मणावि'-ति दाशरथौ। 'रामार्जुनगतिस्तयोरि'-ति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः। 'स्थाणुं भज भवच्छिद' इति हरे। 'सर्वं जानाति देव' इति युष्मदर्थे। 'कुपितो मकरध्वज' इति कामे। 'देवस्य पुरारातेरि'-ति शम्भौ। 'मधुना मत्तः कोकिल' इति वसन्ते। 'पातु वो दयितामुखमि'-ति साम्मुख्ये। 'भात्यत्र परमेश्वर' इति राजधानीरूपाद् देशाद् राजनि। 'चित्रभानुर्विभाती'-ति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। 'मित्रं भाती'-ति सुहृदि, 'मित्रो भाती'-ति रवौ। 'इन्द्रशत्रुरि'-त्यादौ वेद एव, न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

आदिग्रहणात् -

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं।।
(एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।

एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः।।)

इत्यादावभिनयादयः।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात् तस्याः, न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद्, अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः।

यथा—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल —
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।।

साहचर्यं विराधिता शब्दस्यान्यस्यसन्निधिरिति त्रयं विशेषतोऽभिधानियन्त्रकत्वेन विचारणीयमस्ति। साहचर्य द्वन्द्वादिनोक्तयोर्नानार्थकयोःपदार्थयोः समानक्रियान्वयित्वम्। विरोधिता, विरोधिनोर्द्वयोः समानक्रियान्वयित्वम्। विरोधिता, विरोधिनोंर्द्वयोः षष्ठीविभक्तिनिर्दिष्टयोः कारकेण सहान्वयः। तथा च शब्दस्यान्यस्य सन्निधिरिति व्यवस्थितान्यशब्दसन्निधेर्नानार्थकपदस्याभिधानियमनमिति प्राचीनैः संकेतितम्। तत्र रामलक्ष्मणौ इति साहचर्यस्य, रामार्जुनगतिस्तयोरिति विरोधितायाः, देवस्य पुरारातेरिति, शब्दस्यान्यस्य सन्निधेरुदाहरणानि निर्दिष्टानि।

अत्र छायातपौ रामरावणौ इति द्वन्द्वेनोपादीयते तदानीं प्रश्नः समुदैति यत् साहचर्यस्यंवा विरोधिताया वा कस्य नियामकत्वम् ? न साहचर्यस्य, एकस्यां क्रियायां छायातययोरनन्वयात्, न विरोधिताया, विरोधिनोर्नानार्थकयो कारकेऽन्वयाभावात्। उभयत्र द्वयोरपि पदार्थयोर्नानार्थकत्वमपेक्ष्यते। उभयत्र, आतपरावणयोरेकार्थकत्वात्। न च विरोधितायामेकस्य व्यवस्थितार्थकत्वं मत्वा विरोधिताया लक्षणान्तरं कृत्वा तदुदाहरणं प्राचीनविरुद्धं स्वीकर्तव्यम्। नानार्थकयोरुभयोरेकार्थे सहैवाभिधानियामकस्यान्यस्यानुपलब्धत्वात्। न च शब्दस्यान्यस्य सन्निधिरुभयोर्नानार्थकयोरेकवाच्यसंसर्गित्वेनात्र नियामको मन्तव्यः, यतोहि अत्रप्राचीनै र्व्यवस्थितार्थकपदसान्नि–

ध्येन नानार्थस्य पदस्याभिधानियामकत्वं लक्षितम् देवस्य पुरारातेः इत्युदाहृतञ्च। पुरशब्दस्य नगरपुरदैत्ययोरर्थयोरभिधायकत्वेन व्यवस्थितपदारातिसन्निधानेन पुरपदस्य दैत्यार्थेऽभिधानियमनम् तथा च पुरारातेरित्यस्य पुरान्तकशम्भौ नियमनम्। न च, त्रिपुरशब्दाभिधेयो दैत्यः प्रसिद्धः न पुराभिधेय इति वक्तव्यम् पुरच्छिदं पुरान्तकमित्यादेः शिवस्तुतौ प्रयुक्तत्वात्। अतः व्यवस्थितार्थकारातिपदसन्निहितपुरपदार्थदैत्यावगत्यनन्तरं पुराराति पदस्य शम्भौ अभिधानियमनम्। त्रिपुराराते रित्युच्येत तदानीं विशेषार्थक शिवापरपर्यायस्यास्य लिङ्गवन्नियतार्थकत्वमेव स्यात्। न च नगरवाचिनः पुरस्याचेतनत्वेनात्रारातेः साक्षादन्वयासम्भवात् पुरपदस्य परपुरवासिषु लक्षणाऽङ्गीकर्तव्या, अभिधानिरूप्यस्थले लक्षणाऽङ्गीकारोऽनुचितः अतउक्तम् 'देवस्य पुरारातेः इति' शम्भौ। देवस्यइत्यस्यभिधानियमनं शम्भौ यदुच्यते टीकाकारैस्तदनर्हम्। पुराराति पदस्याप्यव्यवस्थितार्थत्वात्। त्रिपुरारातिपदस्यैव व्यवस्थितार्थत्वात्।

यत्तु शब्दान्तरसन्निधेर्नानार्थकपदैकवाच्यसंसर्गित्वेन नानार्थकयोः समभिव्याहारलक्षणंकृत्वा नानार्थपदानां समभिव्याहारमात्रेण परस्परसंसर्गियोग्यपदार्थप्रतिपादनेन, प्रकृताप्रकृतयोरुभयत्र पदार्थ वाक्यार्थयोरभिधानियमनमप्पय्यदीक्षितैरुक्तं तत् सर्वथा प्राचीनविरुद्धम्। केवलं शब्दान्तरसन्निधेरेतद्विलक्षणं लक्षणं तत् प्रकृताप्रकृतार्थयोरुभयोरभिधयैव ग्रहणाय कृतम्। तद्दिशा परस्परान्वययोग्ययोः प्रकृतार्थाप्रकृतार्थयोर्वाक्यार्थबोधायापि समभिव्याहाररूपशब्दान्तरसन्निधिर्नियामकः क्षमो भविष्यति यतो हि यत्राभिधानियामकता तत्र सर्वत्रप्रकृतार्थत्वमिति प्राचीनैरपि मन्यते। इत्थमुभयत्रप्राकरणिकत्वमप्पय्यदीक्षितैः कल्पितम्। तथाच

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिःकरैः।।

इत्यादिपद्ये चन्द्रोदयवर्णनप्रस्तावे प्रकृतचन्द्रोदयसम्बन्धि वाक्यार्थोऽभिधया तथा च भूपत्यभ्युदयादिविशिष्टोऽप्राकृतार्थो व्यञ्जनयेति प्राचीनैस्ताभिस्ताभिर्युक्तिभिः स्वीकृतं, तन्निरस्य शब्दान्तर सन्निधिरूपनियामकसत्वादत्रोभावपि वाक्यार्थौ प्रकृतावेव मत्वोभयत्रा-

भिधा व्यापारः स्वीक्रियतामिति दीक्षिताभिप्रायः।

ममेत्थं प्रतिभाति। संयोगादिषु नियामकेषु मध्ये परिगणितः शब्दान्तरसन्निधिरप्यन्यवद्नानार्थकस्थले प्रकृतार्थेऽभिधानियामकत्वं प्राचीनवद् भवद्भिरपि मन्यते। किन्तु संयोगादिना तु केवलं प्रकृतेऽर्थे एकस्मिन्नेव वाक्यार्थेऽभिधानियामकत्वं शब्दान्तरसन्निधिना तु एकवाच्यान्वययोग्यपदार्थोपस्थापनद्वारा नैकेषु वाक्यार्थेषु अभिधा-नियामकत्वं यत् स्वीक्रियते तत्तु वैषम्यम् संयोगादिभ्यः। वाक्यार्थान्तरबोधेऽपि नियामकत्वमिति वदतोव्याघातः। ननु येन ध्वस्तमनोभवेन .... इति पद्ये उभयोः प्रकृतर्थयोः कथमभिधा प्रसरतीति, चेत् शब्दान्तरसन्निधेर्नियामकत्वं न स्वीक्रियते इति न वक्तव्यम् वस्तुतस्तत्र संयोगादिषु कस्यापि प्रवृत्तिनास्तीति प्राचीनैर्निरुक्तम्, अतएवाभिधाया प्रसरणम्, भवद्भिस्तु सन्नि-धेर्नियामकत्वं स्वीक्रियते उभयत्राभिधाप्रवृत्तिरपि दर्श्यते इति विरुद्धम्। अतः प्राचीनोक्तशब्दान्तरसन्निधेरेवोदाहरणं लक्षणं च युक्तम् इतिभाति।

ननु 'व्यालो दानेन राजते' इत्यत्र कथमभिधानियमनमिति दुष्टगजमदराजिपदार्थयोरेवान्वययोग्ययोरुपस्थितिर्न तु दातृत्वध-र्मसर्पयोरिति चेत् पदार्थोपस्थितिवाक्यार्थयोःसमानाकाराकारत्वेन योग्यतया ग्रहणात् वाक्यार्थानन्वययोग्यार्थस्योपस्थितिरेव न भवति अभिधयेति का हानिः ? चेद् व्यालपदेन सर्पोपस्थितिः स्वीक्रियते तदानीं दानपदस्य दोऽवखण्डने धातोर्निष्पादनं विधीयताम्, तथा दंशनसमर्थः सर्पो राजते इति वाक्यार्थोऽपि जायताम्। किन्तूभयत्राभि-धास्वीकारे नियामकं न स्वीक्रियताम्, नियामकत्वस्वीकारे च उभयत्राभिधा न स्वीक्रियताम्, का हानिः। उभयत्र वाक्यार्थबोधस्तु भविष्यत्येव। "कथञ्चास्य संग्रहः, दुष्टगजमदजलयोरेवोभिधा-नियमनमिति सर्वानुभवसिद्धः" कथं तत्रभवद्भिरुच्यते।

यत्तु विरोधितोदाहरणे उभयोर्नानार्थकयोःपदयोः स्थाने अन्यतरस्य व्यवस्थितार्थत्वमन्योन्याश्रयदोषपरिहारायोच्यते तथा च रामार्जुन-गतिस्तयोः' इत्यस्य स्थाने छायातपौ रामरावणाविति उदाह्रियेते तदपि न। प्रक्रान्तस्य विरोधिनोस्तयोर्विरोधवशात् नानार्थकयोर्द्वयोः सहैवैकस्मिन्नर्थेऽभिधाया नियमनात् भार्गवकार्तवीर्ययोरर्थयोरवगति-

र्भवति कुत्रान्योन्याश्रयः। यथाऽस्मिन् पद्ये मदीये –

आजन्मनो गूढविरूढवैरयोः
कौन्तेयदुर्योधनयोरपीशयोः।
रामार्जुनीया गतिरीदृशोर्ध्रुवं
निरूप्यते लोकपुराणवादिभिः।।

अत्र भीमदुर्योधनयोः प्रक्रान्तयोर्विरोधवशाद् रामार्जुनपदयोर्भार्गव कार्तवीर्यार्थयोरभिधा युगपद्नियम्यते।

श्रीमदप्पय्यदीक्षिता वृद्धैराचार्यैरस्फुटीकृतान् विशेषान् दर्शपितुं रूटिर्योगो योगरूढिश्च त्रिधा अभिधानिरूपिता। तासु रूढिः मणि-नूपुर-मौक्तिकेषु, क्रमेण अव्यक्तयोगो निर्योगो योगाभासश्च तद्भेदाः प्राचीनोक्ता उदाहृताः। चतुर्थी रूढिस्तु त्वच्चरणं सकृत् प्रपद्य मुक्तानां जनानामपेक्षया नित्यं भजतां मणिनूपुरमौक्तिकानाम-तिमुक्तलक्ष्मीर्युक्तैवेति वाक्यार्थे, अतिमुक्तलक्ष्मीर्वासन्तीमुकुलशोभैव मुक्तातिशायिनीसम्पत् 'इत्युभयो रूढियोगयोरर्थयोरभेदाध्यवसायस्य विवक्षितत्वेऽपि वासन्तीगतत्वेन अतिमुक्तशब्दः रूढिरेवेति दर्शितम्।

रूढ्यादिषु क्वचिद् रूढपदेऽपि योगार्थः क्वचित् योगपदेऽपि रूढ्यर्थः क्वचिद्योगरूढपदेऽपि केवलं योगार्थः, क्वचित्केवलं रूढ्यर्थः क्वचिच्च योगरूढपदसत्वेऽपि पुनः रूढपदोपादानं इति वैलक्षण्यमभि-धासु दृश्यते। किन्त्वत्र रूढ्यादीनां केवलत्वमेव यथालक्षणं मन्तव्यम्।

नुन कथं रूढपदे योगार्थस्य सत्वेऽपि केवलं रूढिः, योगपदे रूढ्यर्थस्य सत्वेऽपि केवलं योगः, योगरूढपदे केवलं योगार्थस्य केवलं रूढ्यर्थस्य सत्वेऽपि योगरूढपदमेव व्यवहर्तुंशक्यते इति न वक्तव्यम्। यतोहि यथाप्रकृतार्थं तेषां केवलत्वस्य विवक्षितत्वेऽ-प्रकृततयाऽन्यस्य विवक्षितत्वेऽविवक्षितत्वे वा नास्ति वक्ष्यमाणरीत्या क्षतिः, रूढ्यादिषु प्रत्येकं प्रतिलक्षणव्याप्तत्वात्।

रूढपदे योगार्थस्याभासेऽपि केवलरूढिर्यथा-

पदजलजसमीपं स्थातुकामः तपस्यन्
नियमधृततृणान्तर्मण्डपः श्वापदोऽम्ब।
तव वहनमवाप्यागामिजन्मन्यनन्त
बलविभवमयस्ते भान् मणीमण्डपस्थः।।

हे अम्ब ! श्वापदः श्वा सिंहसदृशस्तव चरणकमलमवाप्तुं सुदृढ तृणनिर्मितमण्डपाश्रितः तपस्यन् आगामिनि जन्मनि तव वाहनं भूत्वा अपरिमेयबलविभवसम्पन्नः शोभमानो मणिद्वीपमण्डपस्थोऽस्ति।

नियमधृततृणान्तर्मण्डपः इत्यत्र यथानियमं गृहीततृणमय पात्रान्तर्मण्डपायीति मण्डंपिबतीति मण्डपायी, योगार्थस्तपस्यानुकूलत्वेन विवक्षितोऽपि न योगरूढः अन्वयेनेकार्थस्यानुल्लसितत्वात्। उभयोः रूढि-योगार्थयो र्भिन्नत्वेनाभेदाध्यवसायत्वं स्वीकर्तु शक्यते। अतोऽत्र तृणनिर्मितमण्डपार्थे रूढिः केवलैव। जयदेवेन योगाभासरूढिरत्रनिर्दिष्टा। यथा –

अव्यक्तयोगनिर्योगयोगाभासै स्त्रिधादिमः।
ते च वृक्षादि भूवादि मण्डपाद्या यथाक्रमम्॥

व्याख्या मत्कृतटीकायां द्रष्टव्यम्।

योगपदे रूढ्यर्थस्य सत्वेऽपि केवलं योगार्थान्वयाभासो यथा ममैव –

गजमुखमवलम्बे चन्द्रमौलिं महेशं
अचरचरजगत्सूशोभिपार्श्वाङ्कदेवम्।
क इह गतमतिर्वा प्राप्यचिन्तामणिं यो,
भवसुखमभिलष्येत् गुञ्जयोप्तावतंसम्।

अत्र चन्द्रमौलिमहेशपदयोः शिवापरपर्याययो रूढ्या समुदायार्थप्रतिभासेऽपि गजमुखविशेषणत्वेन तस्य योग एव। शिरसि चन्द्रावधानेन भगवतो गजमुखस्य सकलसुखशान्तिसुधाप्रकाशादिदातृत्वं भक्तेषु प्रत्ययार्थं योगार्थत्वेन विवक्षितस्य चन्द्रमौल्यादिपदस्य रूढ्या भगवतः शिवस्य सम्बन्धिवाक्यार्थोऽपि विवक्षितः सन् अभेदाध्यवसायेन स्थितिः। भगवच्छिवगणपत्योः पितापुत्रयोरभेप्रतीतिश्च फलम्। तथापि गणपतिपक्षे केवलं योग एव। नात्र योगरूढिः भिन्नत्वेनानन्वयरूपार्थस्योल्लासात्।

पौनरुक्त्यपरिहाराययोगरूढपदे केवलं योगार्थस्यान्वयाभासो यथा-

यदि भवति सहायस्ते प्रसन्नो वसंतः,
मिलदलिरवकांतालंक्वणन्नूपुराग्रः।
तव कुसुमशराग्रे काम ! नेशः पिनाकी,

ज्वलदलिकदृशोग्रे यस्त्रिनेत्र: कराल:।।

अत्र पिनाकी उग्र: त्रिनेत्र इति पदत्रयं शिवस्यपर्याय:, तत्र पुनरुक्तिदोषोल्लासवारणाय, पिनाकीउग्रपदयो: केवलं योगार्थ मात्रपरत्वं तदानी मेवान्वययोग्यत्वम्। अत्यन्तमेवोग्र: पिनाकहस्तोऽपि शिवस्तव पुर: योद्धुमसमर्थ इतिवाक्यार्थोऽभीष्ट।

क्वचिदेकस्यैव प्रयुक्तस्य योगरूढपदस्य केवलमवयवार्थे विश्रान्ति: यथा –

अमृतसुरभिमण्यश्वादिसिन्ध्वब्जभूय-
स्स्वयमनितरसौभाग्योऽब्ज एको ललाटे।
विगलितगुणकान्ति क्षीणसद्भासयाऽपि
गिरिश ! तवगृहीतो राजतीतिप्रणम्य:।।

अत्र सिन्धुजलजातेषु अमृतसुरभिमण्यादिषु एक एवाब्जश्चन्द्र: (अब्जोजैवास्तृक: सोमो ग्लौर्मृगाङ्क: कलानिधि:) क्षीणकलोऽपि त्वद्गृहीतो लोकप्रणम्य: सन् राजतीति वाक्यार्थे सिन्ध्वब्जपदं केवलं जलजातरूपार्थं प्रतिपादयति।

क्वचिद् योगरूढस्य केवलं समुदायार्थे विश्रान्ति: - यथा-

नाभ्युद्गताम्भोजनिबद्धपद्मासनो विधिर्मीलितनेत्रपङ्क्ति:।
जिघांसुमालोक्य मधुं भियो यां मुक्त्यै समस्तौत् शरणं तदेकम्।

अत्र 'अम्भोज' पदं योगरूढं, रूढ्या केवलं पद्मरूपार्थं प्रतिपादयति। 'अम्भसोजायते' इति योगार्थस्य, नाभेर्जायमानस्य पद्मस्य कृते, नान्वेति इति केवलं रूढार्थोऽत्र विवक्षित:, इत्यादिकमत्यन्तमेव संक्षेपेण चन्द्रालोके प्रकाशितं दृश्यते।

केवलं यौगिकपदेऽपि रूढ्यर्थसत्वेऽपि, केवलंयोगार्थग्रहणाय, यौगिकस्य संम्भिन्नाख्यो भेदो दर्शित:। यथा-

शुद्धतन्मूलसंभिन्नप्रभेदैर्यौगिकस्त्रिधा।
ते च भ्रान्ति-स्फुरत्कान्ति कौन्तेयादिस्वरूपिण:।।

अत्र 'कौन्तेय' पदं यौगिकं, केवलमर्जुनार्थे रूढिमात्रम्। एवमेव योगरूढपदस्य केवलावयवार्थग्रहणाय नीरधि भूरुहादि पदं दर्शितम् क्वचिच्च केवलसमुदायार्थग्रहणाय, क्षीरनीरधि:, आकाशपऽङ्कजादिरिति दर्शितम्। यथा –

तन्मिश्रोऽन्योन्यसामान्यविशेष परिवर्तनात्
नीरधिः पङ्कजः सौधं सागरो भूरूहःशशी।।
क्षीरनीरधिराकाशपङ्कजं तेन सिद्ध्यतीति।

एतत्सर्व श्रीमदप्पय्यदीक्षितैः स्ववृत्तिवार्तिके प्रदर्शितम् विशेषेण व्याख्यानं च कृतम्।

अत्रेदं विचारणीयम्— रूढियोगयोगरूढित्रितयाभिधोदाहरणत्वेन मण्डपबृक्षादि-पाचकादि-पङ्कजादि-निर्दिष्टानि सन्ति। एतेषु क्रमेण केवल समुदायशाक्तिः, केवलावयवार्थशक्तिः, तथा च उभयोः संकरशक्तिश्चास्ति। एतेष्वेव क्वचित् मण्डं पिबतीति मण्डपोऽवय-वार्थोऽपि दृश्यते तथापि न योगस्य प्रवृत्तिः। क्वचिद् योगस्थले समुदायार्थस्य प्रतिभासेऽपि न रूढिः, गजमुखमवलम्बे चन्द्रमौलि' इत्यत्र शिववाचिनश्चन्द्रमौलिपदस्य न रूढयर्थग्रहः। अन्यथा यत्केवलं रूढियोगाभ्यामुदाहृतं, तत्सर्वं योगरूढेर्विषयोऽवशिष्येत। कथं नोभयत्र योगरूढिरेवस्वीकृतेति जिज्ञासायाम् रूढिधातुप्रत्ययशक्ति-बोध्ययोरर्थयोरन्वयेनोल्लसितैकस्मिन् पदार्थे प्रत्यायकत्वं योगरूढिः यत्र, रूढिशाक्तिबोध्यपदार्थो भिन्नो धातु- प्रत्ययशक्तिबोध्यः पदार्थो भिन्नः, अन्वयेनोल्लासाभावस्तत्र न योगरूढिः अपितु प्रकृतार्थान्वयार्हो योऽर्थः स केवलं योगार्थः केवलरूढ्यर्थः वा स्वीकार्यः। यः खलु तदरिक्तोऽर्थः स एकपदोपात्तत्वेन तदर्थेन सहाभेदमवश्यमध्यवस्यति। अभेदाध्यव- सायार्थमभिधां विहाय व्यञ्जना समुपास्यत इति भिन्न-भिन्न वृत्तिगम्यत्वे नास्ति कश्चन दोषः।

यच्च योगरूढस्थले पौनरुक्त्येन, पिनाकी त्रिनेत्रदिपदानां सहैवो पादानं तत्र प्रकृतार्थानुकूलपदार्थमात्रबोधायावयवार्थमात्रबोधे योगरूढपदस्य लक्षणा कार्या। यतो हि योगरूढपदस्य रूढ्यर्थे योगार्थस्यान्वयात् प्राधान्येन रूढ्यर्थस्यैव सत्वात् 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' इतिन्यायानुकूलत्वादभिधया न क्वापि केवलस्य योगार्थस्य प्रतीति र्योगरूढपदेन कर्तु शक्यते, इत्थं यत्र यत्र रूढ्यर्थमादाय पौनरूक्त्यापत्तिस्तत्र सर्वत्र लक्षणया योगार्थमात्रप्रतिपादने न काचित् क्षतिः।

यत्र तु एकेनैव पदेन योगरूढेन अन्वितरूढ्यर्थप्रधानेन पदार्थान्तरेण

सहान्वये जायमानेऽपि योगार्थः पृथक्तया प्राधान्येन विवक्षितस्तत्र केवलं योगार्थस्य कृते व्यञ्जना स्वीकार्या। न त्वभिधयैव अन्वितयोगरूढ्यर्थबोधानन्तरं पुनः योगार्थमात्रप्रतिपादनायाभिधायाएव प्रसारः स्वीकर्तुं शक्यते। शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः इति न्यायस्य जागरूकत्वात्। यथा "पुष्पधन्वा विजयते जगत् त्वत्करूणावशात्" इत्यत्र पुष्पधनुर्धरत्वविशिष्टमदनोपस्थित्यनन्तरं मदनशस्त्रस्यासारत्वादिबोधनाय केवलं 'पुष्पं धनुर्यस्य स' इति योगार्थोऽनुसंधीयते तदर्थं न अभिधा प्रसरति। तत्र न्यञ्जनाया एवं सामर्थ्यात्।

यत्र तु योगरूढस्यैकस्यैव पदस्य प्रयोगे केवलं क्वचिद् योगार्थत्वेनैवान्वयः क्वचिद् रूढ्यर्थत्वेन पदार्थान्वयः अन्तरेण सह जायते तत्र का गतिरिति चिन्तनीया।

योगार्थनिरपेक्षरूढ्यर्थमात्रान्वये कदाचित् योगाद रूढिर्बलीयसीति न्यायस्य यथा योगार्थरूढ्यर्थयोः पृथक्पृथगन्वययोग्ययोर्मध्ये रूढ्यर्थस्य बलीयस्त्वाद् रूढ्यर्थेन वाक्यार्थान्वयः सम्पाद्यते। चेद् विवक्षितो योगार्थस्तदानी वृत्यन्तरं कल्प्यते तथैवात्रापि रूढ्यर्थेन वाक्यार्थान्वयो जायेत योगार्थस्याविवक्षितत्वात् तत्र न वृत्यन्तरं कल्प्येत। भवतु अभिधयैव योगरूढपदस्य केवलं रूढ्यर्थबोधः पदार्थान्वयश्च। किन्तु योगरूढपदस्य यत्र केवलयोगार्थमात्रमन्वये विवक्षितंतत्र का गतिः। नात्र पुष्पध्वन्वाविजयते इत्यादिवत् पदार्थान्वयानन्तरं शस्त्रनिःसारत्वादिबोधाय योगार्थस्य व्यञ्जनालभ्यत्वं स्वीक्रियते तथा अत्र स्वीकर्तुं शक्यते। अत्र परस्परं पदार्थान्वयायैव योगार्थस्यापेक्षा भवति। अतः वाक्यार्थे योगार्थमात्रस्यान्वयायापि लक्षणास्वीकार्या।

यद्यपि नैयायिका योगरूढपदस्य वाक्यार्थान्वयाय यत्र केवलं रूढ्यर्थो विवक्षितस्तत्रापि लक्षणैव स्वीक्रियते, योगार्थस्य कृते तु स्वीक्रियत एव। तेषामयमभिप्रायः-

योगरूढस्य पङ्कजादिशब्दस्य पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्ट पद्मत्वा-श्रयबोधकस्य विशिष्टार्थकस्यैव पदार्थान्तरेण सहान्वयः अभिधयेति नियमः, स्वतन्त्रतयान्वयार्थं पद्मत्वाश्रयमात्रस्य पङ्कजनिकर्तृत्वा-

श्रयमात्रस्य चोपस्थितये लक्षणैव स्वीकार्या।

अत एतेषामनुसारेण पूर्वोक्तावयवार्थमात्रान्वयस्थले अमृतसुरभिमण्यश्वादिसिन्ध्वब्जभूयस्वितिपद्ये

तथा च केवलसमुदायार्थमात्रान्वयस्थले–

'नाभ्युद्गताम्भोजनिबद्ध .... पद्ये क्रमेण जलजातमात्रार्थे पद्ममात्रार्थे च लक्षणवैति।

लक्षणावृत्तिः

साहित्यशास्त्रे तिस्रो वृत्तयः प्रसिद्धा, अभिधा लक्षणा व्यञ्जनेति। चतुर्थी तात्पर्याख्यापि 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' 'तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः' 'इत्याद्युक्तिभिर्मम्मटेन निर्दिष्टा। इत्थं चतसृषु वृत्तिषु सतीषु शब्दार्थयोः साक्षात् संकेतात्मसम्बन्धः अभिधा, सान्तरार्थसम्बन्धो लक्षणा, आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशात् पदार्थानां परस्परं सम्बन्धस्तात्पर्यार्थोऽपदार्थः वाक्यार्थः, शाब्दबोधाविषयीभूतस्य पर्यवसिते वाक्यार्थे जायमानस्यार्थस्य अथवा वाक्यार्थं पर्यवसयितुं गुणीभूतत्वेन वाच्याद्यर्थभिन्नस्यार्थस्य प्रतिपादनाय या वृत्तिर्गृह्यते सा व्यञ्जना।

तत्र लक्षणालक्षणं वाग्देवतावतारत्वेन विद्वत्सु ख्यातेनाचार्यमम्मटेनेत्थं न्यदर्शि ।

मुख्यार्थबाधे, तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।। इति
शक्यसम्बन्धो लक्षणेति पण्डितराजादिना।

लक्षणेयं शुद्धागौणीभ्यां द्विधा। शुद्धा चोपादनलक्षणभेदाभ्यां द्विधा भूत्वा सारोपासाध्यवसानाभ्यां सह चतुर्धा, गौणी च सारोपासाध्यवसानाभ्यां द्विधेति षड्विधा। इयं च प्रयोजनवती। रूढिश्चैकविधेति मम्मटः। शुद्धागौणीभ्यां रूढिरपि द्विविधेति दीक्षितपण्डितराजादयः। साहित्यदर्पणकारास्तु लक्षणायाः बहुविधत्वं कल्पितं किन्तु तत्र क्षोदक्षमं किमपि वस्तु न प्रतीयते। उदाहरणानि तु– शुद्धालक्षणलक्षणायाः 'गङ्गायां घोषः', शुद्धोपादानलक्षणायाः– 'कुन्ताः प्रविशन्ति', शुद्धासारोपाया 'आयुर्घृतम्' शुद्धासाध्यवसानाया

'आयुरेवेदम्' गौणीसारोपाया 'गौर्वाहीक:', गौणीसाध्यवसानाया, 'गौरेवेदम्',। इति रुढिगतशुद्धाया 'नीलोघट:' रूढिगतगौण्यास्तु ''धर्मस्यायमनुकूल:'' इत्यादिप्रयोगा: लभ्यन्ते। तथा च लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्यविवक्षतवाच्यध्वनौ–

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व तत: शरदां शतम्।।'

इत्युदाहृतम्।

एतेषां समेषामुदाहरणानां संग्रहाय लक्षणाया लक्षणमभीष्टम्। तत्र विचारणायाम्–

'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इति लघुभूतं लक्षणं विहाय मम्मटेन कथं गुरूभूतं 'मुख्यार्थबाधे ....' इति लक्षणं निर्दिष्टम्। मम्मटस्य वैयाकरणशिरोमणे: प्रसिद्धिरस्ति 'यदर्धमात्रालाघवमात्रेणोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणा: इति सूक्तेश्चारितार्थ्याय। मुख्यार्थयोगो लक्षणाया: शरीरञ्चेत्, लक्षणाया: कारणकोटौ कथं तस्य न्यास:। न खलु कार्यं कारणकोटावपि स्थितं स्वीक्रियते• प्रागभावप्रतियोगित्व-रूपकार्यत्वस्य हाने:। कार्यतावच्छेदक-कारणतावच्छेदकयोरैक्याच्च। अत: लक्षणाया हेतुत्रयं मुख्यार्थवाध: मुख्यार्थयोग: रूढिप्रयोजयोरेकतरञ्चेति। स्वरूपञ्च 'अन्योऽर्थोलक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिताक्रिया' इति। अत्र 'यत्'पदस्य ''यत: सम्बन्धात्'' अर्थो लक्ष्यते स सम्बन्ध: लक्षणेति यैर्व्याख्यायते तदसाधु। यतोहि मुख्यार्थसम्बन्धस्य हेतुकोटौ सत्वेऽपि स्वरूपकोटौ निवेशोऽनुचित:। अत: 'यत्'पदं प्रतिपत्तिपरमपि अत्र न ग्राह्यम्, यच्च प्राचीनैर्लक्षितम् 'शक्यसम्बन्धेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणेति स्वीक्रियते तत्रापि प्रतिपत्ते: प्रतिपत्तिहेत्वर्थो ग्राह्य: यतो हि न वृत्ति: प्रतिपत्तिरूपा (ज्ञानरूपा) अपि तु प्रतिपत्तेर्हेतुरूपेति।

अत: 'यत्' इति यया व्याख्येयम्। उक्तञ्च प्रदीपे– यत्तु यदित्यस्य यत इत्यर्थकतया सम्बन्धपरतयैव सूत्रव्याख्यानं तदयुक्तम्, 'नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा' इत्यत्र मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुरिति व्याख्यानविरोधात्'। इति। (पृ.३८)

इत्थं लक्षणाया हेतौ, त्रितयस्य निवेशेऽपि केवलं मुख्यार्थ-

बाध एव लक्षणायां हेतुत्वस्वीकारे नास्ति किञ्चिद्बीजम्, तर्हि कथं कारिकावल्यां ''लक्षणाशक्यसम्बन्धः तात्पर्यानुपपत्तितः' इति लक्षणमासूत्र्य गङ्गायां घोषः इत्यादौ गङ्गापदस्य प्रबाहरूपे शक्यार्थे अन्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोधः। परन्तु यद्यन्वयानुपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा ''यष्टीः प्रवेशय'' काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् इत्यत्र लक्षणा न स्यात्। सर्वतोभावेन दधिरक्षायास्तात्पर्यविषयत्वे तात्पर्यानुपत्तिर्लक्षणाबीजं, नान्वयानुपत्ति'' रिति उक्तम्। नागोजिभट्टैरपि परमलघुमञ्जूषायां शक्यसम्बन्धो लक्षणा, अन्वयाद्यनुपपत्तिप्रतिसंधानं च लक्षणबीजम्, वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसंधानमेव लक्षणाबीजम् इति निर्दिष्टम्।

एतत्सर्वं आचार्यमम्मटस्य 'मुख्यार्थबाधेति' लक्षणे केवलमन्वयानुपपत्तिमेव स्वीकुर्वतामाचार्याणां वचनम्, वस्तुतस्तल्लक्षणान्तःक्षोदक्षमतत्वानाग्रहणमूलम्। तात्पर्यानुपपत्तिपदेन कीदृशोऽर्थो भवदभीष्टः। तात्पर्यस्य तात्पर्यार्थरूपशाब्दार्थः, अथवा प्रयोजनम्। आद्यश्चेदन्वयानुपपत्तिरूपलक्षणालक्ष्यार्थ एव तात्पर्यार्थः। प्रयोजनरूपञ्चेत् तर्हि न प्रयोजनानुपत्तिर्लक्षणाबीजमिति वक्तुं शक्यते, यतो हि प्रयोजनमुद्दिश्यैव लक्षणोपास्यते। ननु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्रान्वयाननुपत्यनन्तरं वक्तुरिदं न तात्पर्यमपि तु सर्वेभ्यो दध्युपघातकेभ्यो दधिरक्षणमिष्टमिति तात्पर्यानुपत्तिरिति ? तत्र पृच्छामि, यद् वक्तुरिदमेव तात्पर्यमिति केनोपायेन तत्रभवद्भिर्निश्चितम्। न वक्तृबोद्धव्यादिसाहाय्येन किमपि वस्त्वर्थ इयत्तया निश्चेतुं शक्यते। वक्तृबोद्धव्यादिः केवलमन्यार्थबोधने साहाय्यमाचरन्ति न तु नियन्त्रणम्। नियन्त्रकत्वं तु संयोगादिना नानार्थस्थले एव स्वीकृतम्। नात्र नानार्थत्वं येन प्रकरणादिना कश्चनाप्यर्थो नियन्तुं शक्येत। एवमेव 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्रापि शैत्यपावनात्वादितात्पर्यसिद्ध्यर्थमेव गङ्गापदस्य लाक्षणिकत्वं स्वीकृतं न घोषपदस्येति तात्पर्यानुपपत्तिरेवेति, वचो सर्वथा निर्दुष्टम्। अन्वय- बोधमात्रक्षीणायां वृत्तौ वृत्यन्तेरण तात्पर्यरूपप्रयोजनसिद्धिरिति घण्टापथः। वस्तुतो यदा घोषपदस्य मीने लक्षणा क्रियेत तदानीं रूढिप्रयोजनयोरन्यतरहेतोरभावाद् लक्षणैव न प्रसरति, अतः गङ्गापदस्य तीरे लक्षणा भवति, तथा च

तीरप्रतियोगिकघोषानुयोगिकः शाब्द- बोधश्च भवति। गङ्गात्वेन तीरोपस्थितावपि पदार्थसमन्वये नास्ति गङ्गात्वस्योपयोगित्वमिति नात्रोपादानलक्षणाया अवसरः। लक्षणायां समानप्रकारकत्वा-नुभवविलक्षणलाक्षणिकशाब्दबोधोपपत्तेः।

यत् तात्पर्यं भवद्भिरुच्यते तदेव प्रयोजनपदेन, 'प्रयोजनात्' इति मम्मटेनोक्तम्, अन्यद् वा ? चेदेकमेव, तदानीं प्रयोजनानुपत्ति र्न लक्षणाबीजं वक्तुं शक्यते प्रयोजमुद्दिश्यैव लक्षणोपास्यते। प्रयोजनातिरिक्तं चेत् तर्हि किं तात्पर्यार्थात्मपदार्थसमन्वयरूपं, वा तद्भिन्नम्।

पदार्थसमन्वयानुपत्तिश्चेत् नास्ति दोषः, शाब्दबोधे, मुख्यार्थ-बाधस्यापि तद्रूपादेव। किन्तु न पदार्थसमन्वयरूपं तात्पर्यं भवदनुकूलं यतो हि काकेभ्यो दधिरक्ष्यतामित्यत्र पदार्थसमन्वयरूप-तात्पर्यस्यानुपपत्तेरभावात्, कथमत्र तात्पर्यानुपत्तिर्लक्षणायां हेतुरिति भवद्भिर्वक्तुं शक्यते। न पदार्थान्वयरूपमपि तु वक्तुरभिप्रायरूपमिति चेत् शाब्दबोधे वक्तुरयमेवाभिप्रायः इति वेदितुं शब्दानुपादानेऽपि क उपायः। चेत् वक्तृबोद्धव्यादिसाहाय्येन, सर्वतोभावेन दधिरक्षणं वक्तुरभिप्रेतमिति काकप्रतियोगिकदधिरक्षणानयपोगिकशाब्दबोधानन्तरं बोद्धद्भ्राधिगम्यते तर्हि कथं लक्षणाकोटौ तस्य सन्निविष्टः। ननु पूर्वत एव प्रकरणादिना सर्वदध्युपघातकेभ्यः दधिरक्षणं प्रवृत्तं तत्स्थाने काकेभ्यः इति प्रयुक्तम्। अतः बाध इति अस्तु, किन्तु बाधोऽयं शब्दश्रुतमात्रेण जातान्वयबाधाद् ''गङ्गायां घोषः'' इत्यादिस्थलीयाद् भिन्न एव। एको बाधस्तु श्रुतमात्रेणापरस्तु तात्पर्यपर्यालोचनयेति स्पष्टमुभयोर्भेदः। कथं तावद् भिन्नविषयत्वे स्थितयोरुभयोर्बाधयोरैक्यम्।

अतः मुख्यार्थबाधे, मुख्यार्थयोगे, रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्मिन् हेतौ सत्वे लक्षणेति, वचसा, मुख्यार्थबाधप्रयोजनयोः, ग यां घोषः इत्यत्र, मुख्यर्थयोगप्रयोजनयोः 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यतामित्यत्र, हेतुत्वेन स्वीकारे उभयोरनेनैवेकेन लक्षणेन समन्वयः, अतः लक्षणासामान्य-लक्षणमिदम् इति चेत्? तदपि न, हेतुत्रितयस्येत्युक्तिरनुपपन्ना स्यात्। द्वयोरेव हेतुत्वात्। मुख्यार्थबाधमुख्यार्थयोगयोरन्योन्य-विशेषणतया शाब्दबोधे कृते, यदा मुख्यार्थबाधो जातः, तदनन्तरं

मुख्यार्थयोगस्तथासति प्रयोजनसत्त्वे लक्षणेति, तदा ग यां घोषः इत्युदाहरणस तिः। यतः श्रुतमात्रेणान्वयबाधे जाते पुनः प्रयोजनमश्रित्य मुख्यार्थयोगे सति मुख्यार्थयुक्तोर्थो यया लक्ष्यते सा लक्षेणति, अर्थ आयातः। अत्र मुख्यार्थयोग इत्यस्यार्थः मुख्यार्थतावच्छेदकयोगः। यतो हि मुख्यया वृत्या तत्प्रकारक-तद्विशेष्यकपदार्थोपस्थितिर्भवति अतः मुख्यार्थकोटौ तदवच्छेदकस्य सत्ताऽस्त्येव। "मुख्यार्थ- सम्बद्धस्तत्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः" इति हेमचन्द्राचार्येणोट्टी तम्। पण्डितराजेनाऽपि मुख्यार्थतावच्छेदकतया लक्ष्यभानस्य स्वीकारात्" इत्युक्तम्।

तथा च – काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र मुख्यार्थयोगे जाते सति, पश्चात् वक्त्रादिवैशिष्ट्यात् मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थता-वच्छेदकत्वेन मुख्यार्थबाध इत्यर्थः। सर्वेभ्यो दध्युपघातकेभ्यो दधि-रक्षणस्येष्टत्वात्। काकप्रतियोगिकदधिरक्षणानुयोगिकशाब्दबोधानन्तरं काकत्वेन काकपदार्थोपस्थितौ, सत्यां जातायां बाधायां दध्युपघातकत्वेन काकस्य प्रतियोगिकतयान्वयः। रक्षणातिशयश्च व्यङ्ग्यः।

इत्थं कृते विचारे एकमेव लक्षणमुभयत्रान्वेति इति नालोचनीयः वाग्देवतावतारः। तथा च लक्षणाया द्वौ भेदौ स्वयमेवार्थत आयातौ। एका शाब्दी लक्षणा एका चार्थी लक्षणा। यत्र श्रुतमात्रेणान्वय-बाधस्तत्रशाब्दी लक्षणा, यत्र तु तात्पर्यादिपर्यालोचनया बाधः तत्रार्थी लक्षणेति। एषैव शब्दार्थगतत्वे, दोषगुणालङ्कारादीनामपि व्यवस्थितिः। इत्थञ्च शाब्दीलक्षणाया क्षेत्रं अलङ्कारादिः। आर्थी लक्षणायाश्च ध्वनिरिति। अर्थव्यञ्जकतायामेव वक्तृबोद्धव्यकाक्वादीनां साहाय्येन हेतुत्वं दर्शितम् मम्मटेन। लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्प्राधान्ये सत्येवा-विवक्षितवाच्यध्वनिः स्वीकृतः। पर्यवसिते च वाक्यार्थे तात्पर्यादिवशाद् यत्रार्थेनार्थान्तरस्य व्यक्तिस्तत्रैवध्वनिः आचार्यैः स्वीकृतः। वक्तृबोद्धव्याद्यर्थाश्रयत्वे बाधस्यार्थीलक्षणेति।

एतदेवाभिसन्धाय पण्डितराजेनोक्तम् – 'तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम् इति। मुख्यार्थतावच्छेकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावः इत्यनेन अन्वयानुपत्तिस्तात्पर्या-

नुपपत्तिमूलयोरूभयोः स्थलयोः संग्रहः कृतः। 'गङ्गायां घोषः इत्यत्र तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थगङ्गार्थस्य प्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन नास्त्यन्वयः, अतो मुख्यार्थतावच्छेदकगङ्गात्वरूपेण तटप्रतियोगिकतायाऽन्वये सत्वेऽपि नास्तिक्षतिः। काकेभ्योदधिरक्ष्यतागित्यत्र दधिरक्षणानुयोगिककाकप्रतियोगिकशाब्दबोधे, मुख्यार्थकाकस्य प्रतियोगिकतया जातेऽप्यन्वये वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्याद् मुख्यार्थतावच्छेदककाकत्वस्य नास्त्यन्वयः, अपितु दध्युपघातकत्वस्येति, उभयत्र लक्षणसमन्वयः। अतः काव्यप्रकाशकारिकाया अर्थः स्पष्टीकरणीयः।

लक्षणाया, हेतुत्रितये, साक्षाद् हेतुत्वार्थकपञ्चम्यन्तपदं तावद् रूढिप्रयोजनपदयोर्दृश्यते। मुख्यार्थबाध मुख्यार्थयोगरूपहेतुद्वये कथं न पञ्चम्यन्तं पदमुपात्तम् ? इति क्रियमाणे विचारे, तात्पर्यविषयान्वये, मुख्यार्थबाधे जाते सति तद्योगे इति, मुख्यार्थतावच्छेदकयोगे प्रयोजनतः एका लक्षणा अन्वयानुपत्तिरूपा। तात्पर्यानुपपत्तिरूपा तु, तद्योगे, तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थयोगे, जाते सति, मुख्यार्थबाधे- वक्तृबोद्धब्यादि वैशिष्ट्यात् शक्यार्थबाधे, प्रयोजनवशात् लक्षणा। इति कारिकार्थः।

इयं लक्षणा रूढिःप्रयोजनवती चेति द्विविधा। तत्राद्या द्विविधा शुद्धा गौणी च। धर्मस्याऽयमनुकूल इत्यादावनुकूलप्रतिकूलानुलोमप्रतिलोमलावण्यादयः कूलानुगत्वाद्यर्थेषु बाधितत्वादविच्छिन्न प्रयोगप्रवाहवशादेकवस्तुप्रवणत्वात्मना सादृश्येन सम्बन्धेनानुगुणादीन् लक्षयन्ति। अतोऽत्र सादृश्यसम्बन्धाद् गौणी। कर्मणि कुशल 'इत्यत्र विवेचकत्वादिसम्बन्धः सादृश्यसम्बन्ध एव बोद्धव्यः। नीलोघटः 'इत्यादौ नीलशब्दवाच्यगुणरूपशक्यस्य समवायसम्बन्धेन गुणी लक्ष्यते अतोऽत्र शुद्धा रूढिः।

द्वितीया प्रयोजनवती अपि पूर्ववत् शुद्धा गौणीभ्यां द्विविधा। तत्राद्या लक्षणोपादानसारोपसाध्यवसानभेदैश्चतुर्धा। गौणी च सारोप साध्यवसनाभ्यां द्विविधेति षड्विधा। एवमष्टविधा लक्षणाः प्रायः मुख्यतयाचार्यैर्लक्षिताः।

कश्चित्तु शुद्धा पञ्चविधा गौणी द्विविधेति सप्तविधा लक्षणा

मन्यते। तेषा मते शुद्धाया जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा, सारोपा साध्यवसानेति पञ्चभेदा:। ते तेषु जहल्लक्षणा गङ्गायां घोष:, अजहल्लक्षणा कुन्ता: प्रविशन्ति' जहदजहल्लक्षणा 'वनं पुष्पितम्' सारोपा आयुर्घृतम् साध्यवसाना आयुरेवेदम्' मन्वते। एतेषु जहदजहल्लक्षणा न लक्षणात्वेनालङ्कारिकै: स्वीकृता। अस्या अवयवावयविसम्बन्धेन क्रियमाणलक्षणायामन्तर्भाव:। अन्यथा स्वस्वामिभावतादर्थ्य- तात्कर्म्यादीनां पृथक्त्वेन ग्रहणं स्यात्। अत: कार्यकारणभावादिषु मध्ये एतेषां सर्वेषां सम्बन्धानां ग्रहणान्न तावज्जहदजहल्लक्षणा पृथङ्मन्तव्या। इत्थं षड्विधा लक्षणेति पूर्वं निर्दिष्टा।

ननु जहल्लक्षणाया: शुद्धासाध्यवसानयोर्नास्ति कश्चन भेद:, गङ्गायांघोष: आयुरेवेदं इत्यादिस्थलेषु अभेदाभिव्यक्तिरेवास्ति। यथा शैत्यपावनत्वाद्यतिशयप्रतीत्यर्थं गङ्गातटयोरभेदप्रतीतिरिष्यते तथैवाव्यभिचारितकार्यकारणभावप्रतीत्यर्थं आयुर्घृतयोरप्यभेदप्रतीति:। अत उभयत्र विषय्यन्त:कृतविषयरूपतटघृतयोरवस्थानादेको भेदो लक्षणाया मन्तव्य: न तु पृथग्भेद इति चेत्, उच्यते –

वस्तुत: स्वरूपसंवेदनांशमादायोभयो: किञ्चिद्वैलक्षण्यं प्रतीयते यत्रोभयोविर्षयविषयिणोरुपादानं तत्र सारोपा तथा च तत्रैव विषयि मात्रपदोपादाने साध्यवसानेति प्रसिद्धि:। अत आयुर्घृतम्' आयुषिघृते प्रवृत्तिर्वा, आयुषि प्रवृतिरित्यादिवद् गङ्गायां घोष: इत्यत्र गङ्गायां तटे घोष:, गङ्गातटे घोष इत्यादीनां प्रयोगो न लभ्यते।

गङ्गातटयो: सामीप्यसम्बन्धस्य प्रमितत्वात् लोकाप्तवाक्याभ्यां विषयविषयित्वेन झटित्यग्रह:। गौर्वाहीक आयुर्घृतादीनां विषयविषयित्वं लोकाप्तवाक्याभ्यां प्रसिद्धमिति झटिति तद्गतधर्मस्यान्यत्र प्रतीति: सुलभायते। अथवा अविनाभावसम्बन्धेन सामीप्यादि: शुद्धाजहल्ल-क्षणायास्तदितरतादर्थ्यतात्कर्म्यादि: साध्यवसानसारोपादिशुद्धा-लक्षणाया विषय: मन्तव्य:। अन्यथा कुन्ता: प्रविशन्ति इत्यत्रापि कुन्तगततैक्ष्ण्याविवेकत्वादिधर्मोपरक्तपुरूषेष्वपि तदभेदप्रतीतिस्तत्रापि साध्यवसानेति वक्तुं सुलभम्।

अत: क्रियायामन्वयाय यथा कुन्ता: कुन्तधारिण: पुरूषान्

आक्षिपन्ति तथैवाधाराधेयभावसिद्ध्यर्थं गङ्गाशब्दो न, अपितु स्वार्थं सर्वथा तटेऽर्पयति तथैव समभिव्याहृतपदार्थतादात्म्यप्रतिपत्यर्थं सामानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देशः सारोपायां तथा च अन्तःकृतविषयविषयिमात्रोपादानेन सर्वथाऽभेदप्रतिपत्यर्थं साध्यवसानायां इति परस्परं भेदकं बीजं स्वीकर्तव्यम्।

यथा प्रवेशनक्रियायां कुन्तस्याप्यन्वयस्तथा आधारत्वेन नास्ति गङ्गाया अन्वयः, गङ्गात्वेन तटस्य प्रतीतावपि नास्त्युपादानं यतो हि घोषाधारत्वेन गङ्गात्वस्यान्वयो न सम्भवति। अतः लक्षणोपादनयोः परस्परं भेदः। एवमेव आयुर्घृतमित्यत्र समभिव्याहृतयोः समानाधिकरणयोः कार्यकारणभावादिनाऽभेदान्वये आयुष्ट्वस्यापि समन्वयात् लक्षणलक्षणातो भेदः। आयुरेवेदमिति साध्यवसानायां आयुष्टवघृतत्वोभयधर्मविशिष्टघृतस्यान्यपदार्थान्वय इति स्वरूपसंवेदनांशेषु भेदमादाय भिन्नतया निर्देशो विहितः अतः षड् लक्षणा।

जहल्लक्षणायामभेदाभिव्यक्तिसत्वेऽपि वाक्यार्थान्वयमात्रसम्पादन प्रवृत्तायां लक्षणायां नास्ति तत्वेनान्वयः अपितु अन्वयानन्तरं तत्वप्रतिपत्तिः, तत्वप्रतिपत्तौ सत्यामेव प्रतिपिपादयिषितप्रयोजन सम्प्रत्ययः। मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यभानस्य स्वीकारेऽपि मुख्यार्थतावच्छेदकस्य वाक्यार्थान्वये नास्ति किञ्चित्सामर्थ्यमिति ध्येयम्। अतः सर्वथा अभेदाभिव्यक्तिमेवादाय भेदविगलनं न विचारसहम्, अभिव्यक्त्या सर्वत्राभेदस्य सुग्रहात्।

अभेदस्तावन्नास्ति लक्षणाया विषयः। सारोपलक्षणायां गौर्वाहीक इत्यादौ गवाभिन्नो वाहीकइति शाब्दबोधाय लक्षणाया मास्तु आवश्यकता संसर्गेणैव अभेदेनान्वयस्य सम्भवात्। आहार्यज्ञानस्येवशाब्दस्यापि बाधबुद्धिप्रतिवध्यतावच्छेदककोटावनिवेश्यत्वात्। अतो गौणीसारोपायामभेदेन शाब्दबोधानन्तरं तादात्म्यप्रत्ययः फलं मन्यते। तादात्म्यप्रत्ययाय गौर्वाहीकः इत्यादौ विषयिगोशब्दादिभिर्लक्षणयोपस्थापितानां गवादिसदृशानामभेदसंसर्गेण वाहीकादिशब्दोपस्थापितैर्वाहीकत्वादिविशिष्टैर्वाहीकादिभिरन्वयः न च गवादिपदस्य गवादिसादृश्ये लक्षणा, अभेदेन वाहीकादावन्वयासम्भवात्। नामार्थयो भेदातिरिक्तसंसर्गेण विशेषणविशेष्यभावतयान्वयासम्भवात्।

गोसदृशाभिन्नो वाहीकइति शाब्दबोधे उपमावाचकसदृशशब्दस्य सत्वेऽपि नोपमाया विषय एकपदोपात्तगोसदृशयोरर्थयोरभेदेनान्वयाद् गोपदनिष्ठगोत्वमेवावच्छेदकतयोभयोः संगृह्यते। अतः सादृश्यस्याभावान्नोपमा। यथा 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुविम्बमिव' इत्यत्र नानार्थकसकलकलशब्दस्य सकलकलत्वमेवोभयोरर्थयोरवच्छेदकः। अतः श्लेषस्थल इवात्रापि एकशब्दोपादानोत्थस्य-व्यञ्जनस्योपायात्वाच्चन्द्रसदृशयोस्ताद्रूप्यप्रत्यये वैयञ्जनिके बाध-वुद्ध्यप्रतिवध्यत्वात्। इत्थमत्र सादृश्यं न भेदघटितमतो भेदाघटितं सादृश्यं गौणसारोपलक्षणायां भेदघटितं सादृश्यञ्चोपमायामिति स्फुटे भेदबीजे नोपमाया अत्र प्रसङ्गः। विषये वाहीकादौविषयितावच्छेदकस्य गोत्वादेः सम्प्रत्ययात् ताद्रूप्यसवेदनं फलम्। 'वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते किमपरः शीतांशुरुज्जृम्भते इत्यादौ विषये विषयिताद्रूप्यस्यप्रत्ययः। अन्यथा चन्द्रसदृशे वक्त्रे स्थितेऽपि सत्यचन्द्रस्योज्जृम्भणे कुतः प्रश्नः स्यात्। इत्थ गोसदृशाभिन्नो वाहीक इति शाब्दबोधे गवाभिन्नः सदृशः, सदृशाभिन्नो वाहीकः तस्माद् गवाभिन्नो वाहीक इत्यदि सुवचः। स्वताद्रूप्यवदभेदबुद्ध्या स्वताद्रूप्यस्य सुबोधतया तस्मिन्नपि तस्य सिद्धेः।

इत्थं विषयिवाचकपदेन गवादिना विषयिगवादिवृत्तिजाड्यमान्द्यादिगुणवतो लक्षणया सारोपयोपस्थितौ विषये वाहीकादौ तस्याभेदेन संसर्गेण विशेषणतयान्वयः। एवञ्च गवादिवृत्तिजाड्यमान्द्यादि-गुणवद्भिन्नो वाहीक इति शाब्दबोधः। न च गो सदृशो वाहीक इत्युपमातो गोसदृशो वाहीक इति सारोपात्मरूपकस्य को भेदः, समानशाब्दबोधविषयत्वात् अभिधालक्षणादिवृत्तिमात्रवैलक्षण्यस्याप्रयोजकत्वात् विच्छित्तिवैलक्षण्याभावादिति वक्तव्यम्। प्रयोजनवल्लक्षणया लाक्षणिकबोधोत्तरं जायमानेन प्रयोजनीभूतेना भेदबोधेनैव वैलक्षण्यात्। तादृशलक्षणायाः प्रयोजनवत्तानियमात्। वृत्यन्तरव्यञ्जनावित्तिभाव्यत्वेनाभेदबुद्धेर्न बाधबुद्धिप्रतिवध्यत्वम्।

नव्यास्तु नामार्थयोरभेदसंसर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् गवाभिन्नो वाहीक इति लक्षणां विनैव बोधः। संसर्गेणैवान्वयस्योपपत्तेर्लक्षणाकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। लक्षणायाः स्वीकारे उपमित

विशेषणसमासयोरुत्तरपदस्यलाक्षणिकत्वाविशेषात् रूढिप्रयोजन-वत्योरूभयोलक्षणयैव संग्रहात् एकस्योपमात्वमन्यस्यरूपकत्वमिति व्याहतं स्यात्। एवं डित्थ: गौरेव, डवित्थस्तु न तथा अपितु गोसदृश इत्यादौ नञर्थस्य लक्ष्यमाणगोसदृशान्वयित्वात् ' न गो सदृश: गोसदृश: 'इति बोधकदर्थनापत्ते:। नहि नञ: पश्चाद् वृत्यन्त-रभाविफलीभूतज्ञानविषयेणाभेदेनान्वयो युक्त: भिन्नकालिकत्वात्। संसर्गेण जायमानस्याभेदबोधस्याहार्यत्वात् शाब्दत्वाद् वा न बाध-बुद्धिप्रतिवध्यत्वम्। सति च बाधनिश्चये तद्वत्ताशाब्दबुद्धेरनुत्पाद: योग्यताज्ञानविरहात् आहार्ययोग्यताया सत्वान्नात्र बाध:। शाब्दत्वादपि नास्ति बाधवुद्धि:, यतोहि अत्यन्तासत्यप्यर्थे ज्ञानं शब्द: करोति हि' इत्यस्ति प्राचां प्रवाद:।

अपि च विषयिगोगतजाड्यमान्द्यादिगुणवत्वबुद्धे: कथं गवाभिन्नबुद्धिर्वाहीके स्यात्, न हि साधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञानस्य तत्तदसाधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञाने हेतुत्वं क्वाप्यवगतम्। द्रव्यत्वेना भेदग्रहेऽपि पृथ्वीजलयो: पृथिवीत्वादिना भेदग्रहात्। तदभिन्नत्वेनैव ज्ञानादनन्तरं पुनस्तद्धर्मप्रतिपत्ति: फलं स्यात्गङ्गायां घोष इत्यादिवत् प्रवाहाभिन्नज्ञानस्येव शैत्यपावनत्वादिप्रतिपत्तिरिति।

इत्थं वाच्यार्थयोरेवाभेदान्वयोऽभ्युगन्तव्य: न तु वाच्यलक्ष्ययो:। अन्यथा राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्'—

—पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु मञ्जीरशिञ्जितमनोहर-मम्बिकाया:'' इत्युदाहरणयो: राजनाराणं पदाम्बुजमित्युभयत्रोत्तर-पदघटितप्रयोजन रूढिलक्षणागतसदृशपदार्थान्वितशाब्दबोधे समाने विशेषणसमासाधीनलक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनोपमितसमासाधीनमञ्जुमञ्जीर-शिञ्जितमनोहरत्वयोरुपपत्तिनिर्णायिका युक्तिर्नोपलभ्येत। यदि चोपमाननारायणपदस्य नारायणसदृशे लक्षणा तत्र लक्ष्यतावच्छेदकं सादृश्यं समानधर्मरूपम्, स च धर्मो लक्ष्ये राजनि शूरत्वादिविशेषरूपेण प्रतीयते उताहो सामान्यरूपेण। नाद्य: राजनारायणं शूरं श्रीरालिङ्गति निर्भरम् 'इत्युक्त्या पौनरुक्त्यापत्ते:। न चोपात्ताधर्मातिरिक्तधर्म एव लक्ष्यतावच्छेदकीभूतसादृश्यरूप इति वक्तुं युक्तम्, श्लिष्ट-साधर्म्यनिष्पन्नरूपकस्थले श्लेषभितिकाभेदाध्यवसितधर्मातिरिक्त-

धर्मास्यासंवेदनात्। यथा —

अन्तःसारविशून्यानि सरोगाणि सच्छिद्रतः।
शरीरिणां शरीराणि बुद्बुदानि न संशयः।।

न द्वितीयः सादृश्यस्य वृत्त्योपलब्धौ उपमात्वापत्तेः। सादृश्यस्य वाच्यतायामिव लक्ष्यतायामपि उपमा दृश्यते, यथा नलिन प्रतिपक्षमाननम्' इति।

विद्वन्मानसहंस इत्यत्र भूपहंसयोः सरोमनोरूपार्थद्वयाभिधायकमानसनिष्ठमानसत्वरूपसाधर्म्यप्रयोज्यसादृश्ये सिद्धे सदृशलक्षणामूलस्य हंसरूपकस्य सिद्धिः, उताहो हंसरूपकस्फूर्तौ सत्यामर्थद्वयाभिधानलक्षणस्य श्लेषस्यसिद्धिरिति विचार्यमाणे पूर्व रूपकस्फूर्तिरिव प्रमाणिता। स्फुरिते रूपके तद्घटकसादृश्यान्यथानुपपत्तिरूपेण प्रमाणेनार्थद्वयाभेदफलकस्य तदुभयप्रतिपादनात्मनः श्लेषस्य निष्पत्तिः। यथोक्तम्-

रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषं तज्ज्ञापयेत् यदि।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते।। इति।

अतः नामार्थयोरभेदान्वयसरणिरेव रूपकस्थले रमणीया।

इत्थं नव्यानां मते गौणीशुद्धयोः सारोपयोरुभयोरपि नामार्थयोरभेदान्वयसरणिराद्रियते प्राचीनानां मते तु गौणीसारोपायां उपमानपदस्योपमानसदृशे प्रयोजनवतीलक्षणाऽऽद्रियते तथा च शुद्धा सारोपातः गौण्याशाब्दबोधे वैलक्षणण्यमपि निरूप्यते। प्रयोजनवल्लक्षणायां भेदाकरम्बितसादृश्यस्य गौणीसारोपायां, तथा भेदकरम्बितसादृश्यस्योपमायां स्वीकारात्ततोभेदोऽपि निरूप्यते।

साध्यवसानायां तु 'गौर्जल्पति' 'आयुः रक्षति' इत्यादौ गवादिशब्दैर्लक्षणया वाहीकत्वेनोपस्थितस्य वाहीकादेर्जल्पनादिक्रियया सहशाब्दबोधः गोत्वादिना भवति। अथवा लक्षणया वाहीकत्वेन वाहीकादेः शाब्दबोधे जाते, एकपदोपात्तप्रादुर्भूतया व्यञ्जनया गोत्वेन बोधः फलमित्यपि मन्वते। उभयत्र गोत्वभानसामग्र्या वाहीकत्वादेः स्वधर्मस्य भानं न निवार्यते। इत्थमेकस्मिन् धर्मिणि वाहीके गोत्वेन वाहीकत्वेन च साक्षाद् भानमेव सारापातोऽस्या वैलक्षण्यम्।

अतएव 'कचतस्त्रस्यति वदनम्' इत्यादि राहुत्वेनोपस्थितस्य

राहो श्चन्द्रत्वेनोपस्थितस्य चन्द्रस्य च शाब्दबोधानन्तरं व्यञ्जनया कचत्वादिना सम्पद्यते भानम्।

एतासु षड्विधासु लक्षणासु गौण्योः सारोपसाध्यवसानयोः रूपकातिशयोक्त्यङ्कारयोर्मूलत्वम्। शुद्धयोस्तुहेत्वलङ्कारे उपादान-लक्षणलक्षणयोस्तु लक्षणामूलशब्दशक्त्युत्थवस्तुध्वनौहेतुत्वम्। अत्रान्वयानुपपत्तिः। मुख्यार्थयोगे जाते सति वक्तुस्तात्पर्यादि-पर्यालोचनया वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्याद् वा मुख्यार्थबाधे उपस्थिते अन्यार्थलक्षणायां विपरीतलक्षणायां वा सत्यां ध्वनेर्विषयः। यथा-

उपकृतं वहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्।।

अत्र वक्तृबोद्धव्यादिवौशिष्ट्यरूपार्थानुसंधानानन्तरं बाध इति अर्थगतत्वात् अर्थनिष्ठा, आर्थी वा लक्षणा। यत्र च शब्दश्रवण-समकालमेव बाधः स शब्दनिष्ठलक्षणाया विषयो मन्तव्यः। इयमेव तात्पर्यानुपपत्तिस्तात्पर्यादर्थादागता अनुपपत्तिरिति तात्पर्यानुपपत्तिः। इत्यलम्।

तात्पर्याख्या वृत्तिः

काव्ये वाचकलक्षकव्यञ्जकेतिशब्दानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्येति अर्था लभ्यन्ते। शब्दं विनाऽपि एकोऽर्थस्तात्पर्यार्थः काव्यप्रकाशादौ सबहुमानं मुपात्तो दृश्यते। यथा ''तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'' 'इति। केषुचिदिति बहुवचनान्तेन तात्पर्यार्थे समादरो लक्ष्यते, यथा रसनिष्पत्तिप्रसङ्गे श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः इत्युक्तौ प्रतीयते। तात्पर्यार्थः तात्पर्यादागतोऽर्थः इति व्युत्पत्तिस्वीकारे किं नाम तात्पर्यमिति जिज्ञासा स्वाभाविकी। तात्पर्यार्थं लक्षयताचार्येण विशेषणतया विशेषवपुरपदार्थो वाक्यार्थ इति पदत्रयं प्रदत्तम्। तत्र कीदृशो विशेषवपुः कीदृशोऽपदार्थः अपदार्थत्वेऽपि कथं वाक्यार्थः इति प्रश्नो न जहाति चित्तम्।

आकाङ्क्षाया आत्मधर्मत्वात् सन्निधेः पदधर्मत्वादुपचारेणार्थ धर्मत्वं स्वीकृत्याकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमन्तः पदार्था यदा समन्विता भवन्ति तदानीं तात्पर्यार्थः समुल्लसति। तात्पर्यार्थः तात्पर्याख्य-वृत्तिप्रतिपाद्यः। विशेषवपुः- वाच्याद्यर्थविलक्षणं संसर्गतारूपं वपुर्यस्य

सः। अपदार्थः पदवृत्यविषयः। वाक्यार्थः पदसमूहगम्यः इति वामनीटीकायां स्पष्टम्। अनेन संसर्गतारूपस्तात्पर्यार्थो व्याख्यातः। उक्तञ्च काव्यप्रदीपे-लाघवात् पदानां पदार्थमात्रे शक्तिः न त्वन्वयांशेऽपि गौरवादन्यलभ्यत्वाच्च। तदंशो हि तात्पर्यार्थो वाक्यार्थो वाच्याद्यर्थविलक्षणशरीर आकाङ्क्षायोग्यता सन्निधिवशादपदार्थोऽपि प्रतीयते। न चापदार्थप्रतीतावतिप्रसङ्गः। स्वरूपसतः शक्यान्वयत्वस्य नियामकत्वाद् इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्। सुधासागरेऽपि - संसर्गस्य कथं शाब्दबोध इत्यत्राह-वाक्यार्थ इति संसर्ग इत्यर्थः। इत्थं संसर्गतारूपार्थोपलब्धये तात्पर्यावृत्तिरित्यायातम्।

ननु पदार्थशक्तत्वेन ज्ञातं पदमेव स्वार्थस्मरणद्वारा आकाङ्क्षादि-वशात् समभिव्याहृतपदार्थेन सह संसर्गमर्यादया स्वार्थेऽन्वय इति कार्यकारणभावकल्पनात् किमनया तात्पर्याख्यवृत्येतिचेत्, शाब्द-बोधे वृत्यविषयत्ववारणाय वृत्तिकल्पनेति केचित् अतः केषुचिदिति लाक्षणिकमतेषु, भट्टगोपालेन व्याख्यातम्। 'अन्वये लक्षणे'ति भट्टमतमपि तात्पर्यस्यैव नामान्तरलक्षणत्वेन नेयमिति सुधासागरः। एतेन स्पष्ट यद् भट्टमतानुसारेण संसर्गस्य शाब्दबोधविषयत्वे लक्षणा-नामा, मुख्यार्थबाधादिरूपलक्षणातिरिक्ता या स्वीकृता सैव तात्पर्याख्येति।

अत्रैतद् विचारणीयम्, अन्योपायेन प्रमाणेन वा लब्धस्यार्थस्य कृते, कथं प्रमाणान्तरवृत्तिस्वीकारः, नहि प्रमाणान्तरोपायेन प्रमितस्य पदार्थस्य कृते प्रमाणान्तरोपायः प्रकल्प्यते विद्वद्भिः। चेत् संसर्गतारूपार्थमेव तात्पर्य तर्हि संसर्गमर्यादयैव तस्य लब्धत्वात् किमर्थमन्याय्याचारः।

अत उच्यते - न तावत् संसर्गतारूपस्य वाक्यार्थस्य कृते तात्पर्य अपि तु अभिधयोपस्थितानां पदार्थानां संसर्गमर्यादयैव जाते समन्वये सान्वयपदार्थात्मकः वाक्यार्थः तात्पर्यार्थः। अतः वृत्तौ दर्शितं, 'पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थः विशेषवपुरि'ति। चेत् संसर्गतारूपः समन्वय एवं तात्पर्यार्थः तर्हि कथं व्यधिकरणत्वेन समन्वयतात्पर्यार्थयोर्निर्देशः अत उक्तं साहित्यचूडामणौ - समन्वये-सम्बन्धे सति इति। यथा पदार्थानां जातिगुणादीनामभिधेयत्वलक्षणानां

समन्वये, 'व्यपेक्षादिभिरेकार्थपरतयोपात्तानां मिथोऽभिग्रथनमन्वयः' इत्युक्तत्वात्, सम्बन्धे सति पदार्थविलक्षणतया तद्रूपो वाक्यार्थ इत्यङ्गीकारात्। विशेषसरित्तीरफलसंसर्गादिर्वपुराकारो यस्य स (विशेषवपुरिति)

अर्थात् 'सरित्तीरे फलमस्ति' वाक्ये सरित्तीरमिति सरित्सम्बन्धितीरेति ङिविभक्तेरधिकरणत्वं फलमिति फलमर्थः संसर्गस्तु संसर्गमर्यादयेति आधाराधेयभावः सर्वेषां वाक्यार्थत्वे सरित्तीराधिकरणकफलमिति अथवासरित्तीरनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयतावत्फलमिति शाब्दबोधः। अत्र फलविशेषणत्वेनायतस्य सरित्तीराधिकरणकविशेषणस्य बहुव्रीहिसमासायात्तस्य नास्ति पदस्य पदार्थत्वम् अतः एकविशेष्यकशाब्दबोधे काचिद् वृत्तिरवश्यमुपास्येति वृत्यविषयस्य शाब्दबोधेऽभानात्। अन्यथा यस्य कस्यचिदपदार्थस्यापिशाब्दबोधापत्तेः। इत्थं सर्वोऽपि सरित्तीरफलसंसर्गादि वाक्यार्थः नतु केवलं संसर्ग इति।

न च भेदाभेदात्मकसंसर्गस्य बहुब्रीहिसमासाधीनार्थत्वं युक्तम्। अत एवं घटमानयेति घटकर्मकानयनानुकूलव्यापार रूपवाक्यार्थे आनयनविशेषणत्वेन स्थितस्य घटकर्मकत्वस्य बहुव्रीहि–समासायत्तस्यापदार्थत्वं, वाक्यार्थत्वं च सुस्थिरम्। उक्तञ्च–

अर्थाः पदैरभिहिताः स्वातन्त्र्येण पृथक्पृथक्।
अन्योन्ययोग्यसंसर्गमाकाङ्क्षन्ते परस्परम्।।
संसर्गयोग्यैः कथितैः संसृष्टास्ते विमृश्य च।
कस्योपकुर्म इति च प्रधानस्योपकुर्वते।।
प्रधानं मत्परं तेऽपि पदार्थास्तत्परा यतः।
भवन्ति तस्मात्तात्पर्यमित्यर्थान्तरमुच्यते।
वक्तृद्वारा वाक्यधर्मस्यैव वाक्यार्थकल्पनम्।
विशेषणानि सर्वत्रविशिंषन्त्यपि सर्वतः।।
विशेष्यस्य प्रधानत्वं स्वाश्रयत्वंविवृण्वते।।

यत्तु वामनीटीकायां विवरणे स्पष्टमिति प्रतीकमादाय, यद्यपि घटं करोतीति' घटवृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिरित्यर्थे घटशब्दस्य घटोऽर्थः, अम्प्रत्ययस्य कर्मता, वृत्तिता तु न कस्यापीत्यपदार्थोऽपि

वृत्तिता तात्पर्यवशाद् अनयोः संसर्गविधया भासते इत्युक्तम् तत्र पृच्छ्यते, तात्पर्यवशात् संसर्गविधया इत्येकमेव वा भिन्नम्। वृत्तिता तात्पर्यवशात् प्राप्ता, संसर्गमर्यादया च घटकर्मताभ्यां सह वृत्तितायाः सम्बन्धश्चेत् घटवृत्तिकर्मतेत्यस्य लाभः, तर्हि कीदृशी संसर्गविधा ? चेत् संसर्गविधैव तात्पर्य्यं तर्हि एकत्र तात्पर्यवशात् इति पञ्चमी अपरत्र संसगविधयेति तृतीयाविभक्तिः किमर्थम्। अतः कृतिविशेषणतया, कर्मत्वानुकूला इत्येव तात्पर्यवशात् मन्तव्या, वृत्तितानुकूलत्वयोस्तु संसर्गमर्यादयेति विविक्तविषयतोभयोः।

अतः समन्वये सति तात्पर्यार्थः, इति वृत्तौ निर्दिष्टम्। अन्तर्निहितापदार्थवाक्यार्थप्रतिपादकत्वेन स्वीकृतायां तात्पर्याख्यायां रसनिष्पत्तावपि तस्या एव सामर्थ्यं मन्तव्यम्। यतो हि विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति सूत्रे नियताभिहितविभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्यविनाभावात् साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिस्थायी अपदार्थः वाक्यार्थो मन्यते। यथा पूर्वं वाक्यार्थरूपकार्य पर्यवसायित्वादनुक्तवहुब्रीहिघटितार्थाऽपदार्थस्तथैव निरतिशय-सुखास्वादात्मकार्यपर्यवसायित्वादनुपात्तः स्थायी वाक्यार्थ-स्तात्पर्यविषयो मन्तव्यः। पौरुषेयमपौरूषेयं सर्वमपि वाक्यं कार्यपरम् अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वात्। काव्यशब्दरसास्वादयोरन्वयव्यतिरेकित्वेन प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वात् प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमितत्वं विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिनः। अतो विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्वसंसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः, तात्पयार्थः। विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावना वतामेव स्वानन्दोद्भूतेः वाच्यवाचकात्मकविभावादिवाक्यस्योपयोगः अतो न सुखजनकगीतादावतिप्रसङ्गः। अत उक्तं दशरूपके –

वाच्या प्रकारणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः।। इति

एवमेव भ्रम धार्मिक विश्रब्धमित्यादिस्थलेऽपि वक्तुर्विवक्षितप्राप्त्या प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तये निषेधं विधिरुपसर्पति। यथा अपेक्षापूरणा-त्प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिर्भवति तथैव विवक्षितप्राप्त्या तस्याविश्रान्तिरपि। अत उक्तम् –

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते।।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।। इति

इत्थं वाक्यार्थनिरूपणे अभिधालक्षणातात्पर्याख्याभ्योऽतिरिक्तायाः वृत्तेर्नास्त्यपेक्षा समस्तवाक्यार्थावगतिस्ताभ्यस्तिसृभ्य एव। इदृशकाव्यरूपो वाक्यार्थो भावकः, रसश्च भाव्य इति काव्यरसयो- र्भवतु भावकभाव्यसम्बन्धः। इत्थं रसनिष्पत्तौ भावनाख्यव्यापारोऽपि मन्तव्यः।

इत्थं विधिनिषेधयोर्या पार्यन्तिकी प्रतिष्ठा स वाक्यार्थः इति बलाद् 'निमित्तानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्युपायान्वेषणप्रयासः। अथवा वक्तुरभिप्रेततात्पर्यमाश्रित्य प्रयुक्तः शब्दो यत्परः स एव शब्दार्थः, शब्दार्थोऽयमभिधेयार्थ एव, अतः अभिधैवेषुव्यापारवददीर्घ दीर्घतरव्यापार इति मन्तुं लाघवः। तात्पर्यं तु नाभिधान्तर्बहिर्भूतमेवेति केषाञ्चित् 'सोयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्युपायान्वेषणप्रयासः सिद्ध्यति। पुनस्तावत् तात्पर्यवादी चिन्तति, यत्तात्पर्यमभिधातो भिन्नो व्यापारः कल्प्यः, यतोहि उपात्तशब्दार्थतिरिक्तोऽप्यर्थः तात्पर्येण गृह्यते। यथा 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यस्य वाक्यार्थः, एतद्गृहे न भोक्तव्यमिति। अतोऽयं तात्पर्यार्थः शब्दार्थातिरिक्तः। यथा च पूर्वोक्तविभावादिसूत्रे रत्यादिर्वाक्यार्थो निर्दिष्ट इति। इत्थं ध्वन्यालोकस्य कर्तुरानन्दवर्ध- नाचार्यस्य व्यञ्जनव्यापारं निराचिकीर्षूणामभिप्रायो दृश्यते।

एतान् सर्वान् अपि विकल्पान् आचार्यमम्मटः समाहृत्य तात्पर्याख्यां स्वीकुर्वन्नपि तस्याः विषयमभिधादिव्यापारवत् नियम्य व्यञ्जनायास्तया, अगतार्थत्वं निदर्शयन्नाह –

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेतः कर्तुं न युज्यते इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्।

अस्यायमभिप्रायः – अभिधा सामान्यरूपेण पदार्थमात्रे उपक्षीणा

वाक्यार्थरूपान्वितविशेषबोधायैव सा न प्रभवति, तदर्थमेव तात्पर्य वृत्तित्वेन कल्प्यते, तर्हि भ्रम धार्मिके त्यादौ निषेधस्य व्यङ्ग्यतायां कुतः तस्याः सामर्थ्यम्।

अस्तु मा भवत्वत्राभिधा, तात्पर्येणैतस्य सिद्धिरिति चेत् तदपि न, तात्पर्यस्यापि अभिहितपदार्थानामन्वयमात्रे सामर्थ्यम्। तत्तन्निष्ठविशेष्यविशेषणतया परस्परसंसर्गात्मवाक्यार्थबोधायैव सा प्रभवति न तु तदतिरिक्तविधिनिषेधादिबोधकतया। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावा इति सिद्धान्तात्।

अतो यदुच्यते ''नैमित्तकानुसरेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'' अर्थात् नैमित्तिकं हेतुमदर्थः तदर्थानुसारेण यद्यत्प्रयोगाधीनप्रतीतिहेतुकं तत् तन्निमित्तकमित्याकारेण निमित्तानि सम्बन्धग्रहणादीनि कल्प्यन्ते। तत्र पृच्छ्यते किं नाम निमित्तत्वम्। निमित्तत्वेन कारकत्वं गृह्यते ज्ञापकत्वं वा। तत्र नाद्यः शब्दस्य कारकत्वे क्षुरमोदकशब्दानामुच्चारणेषु मुखस्य कर्तनपाटनादिःपूरणादिश्च स्याताम्। अतः शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वम्। ज्ञापकत्वञ्चेत् तर्हि ज्ञातमेव धूमादि अग्नेर्ज्ञापकम्, अतोऽज्ञातस्य कथमपि ज्ञापकत्वम् न घटते शब्दनिष्ठज्ञापकत्वं तु ज्ञातत्वेनैव सम्भवति, ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव। स च सङ्केतोऽन्वितपदार्थमात्रेऽभिधायामन्वितवाक्यार्थमात्रे - च तात्पर्याख्यायां, विरतायां, तदितर विधिनिषेधादिप्रतीतौ कथं ताभ्यां घटते। यतो हि निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तकस्य प्रतीतिरेव कथम्। अतो नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते इत्यविचारिताभिधानम्।

ये तु यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, सोयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः इति वक्तुरभिप्रेततात्पर्यमभिधातुमिच्छन्ति तेषामपि दृष्टौ विधिनिषेधादिर्नाभिधया ग्रहीतुं शक्यते। यतोहि यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इत्यस्यायमेवाभिप्राय उन्मीलितः यत् साध्यसाधनतायां न केवलं तिङन्तपदार्थैः, अपि तु कृदन्तपदार्थेऽपि तात्पर्य चेत् तर्हि तत्रापि साध्यमानतारूपं वस्तुनस्तात्पर्यमभिधातव्यम्। क्रियैवा प्रवृत्तिनिमित्तं पदार्थानाम्। भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति भूतात्मकारकपदार्था भव्यात्मक्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधान-

तिङन्तक्रियानिर्वर्तकतया स्वात्मनिष्ठक्रियाया अप्यभिसम्बन्धं विदधतः साध्यमानतामाप्नुवन्ति। ततश्च वाक्यान्तराद् यावदप्राप्तं तावदेव वाक्याद् विधीयते न तु वाक्यान्तरोपलब्धमपि। यथा वह्निर्यावदद्ग्धकाष्ठमुपक्षिप्तस्तावदेव दहति न तु दग्धमपि। अतः ऋत्विजः प्रचरन्ति इति वाक्यात् प्राप्ते ऋत्विक्प्रचरणे लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति इति वाक्यात् केवलं लोहितोष्णीत्वमात्रपरः शब्दः लोहितोष्णीत्वमात्रशब्दार्थमभिदधाति विधेयतया, अतो लोहितोष्णीषत्वमात्रमेव विधेयम्। एवमेव हवनस्यान्यतः वाक्यात् प्राप्तत्वात्, दध्ना जुहोति इत्यस्मात् वाक्याद् दध्नः करणत्वमात्रं विधेयम्। एवमेव क्वचिदुभयविधिः क्वचित्त्रिविधिरपि। यथा 'रक्तं पटं वय' इति वाक्ये वयनं, पटवयनं, रक्तपटवयनमिति, इत्यादिना पूर्वं अनुपात्ते, एकस्मिन् पदार्थे विधिरनुपात्तयोरुभयपदार्थयो र्विधिरनुपात्तेषु त्रिविधपदार्थेष्वपि विधिरिति, यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमिति वाक्यान्तरादनुपात्ते, वाक्यादुपात्ते एव पदार्थे तात्पर्यम् न तु सर्वथानुपात्तशब्दार्थे अतः उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्ये न तु प्रतीतमात्रे। अन्यथा पूर्वो धावति' इत्युपात्तपूर्वपदार्थस्य पर सापेक्षत्वादनुपात्तेऽपि परपदार्थे तात्पर्य स्यात्। अतः 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्यस्यायमेवाभिप्रायः यद् वाक्यान्तरादनुपात्ते प्रकृतवाक्योपात्त एव शब्दे, क्रियाकारकात्मके तस्य स्वार्थपरत्वं विधेयतया मन्तव्यम्, स एव शब्दार्थः प्रकृतविधेयार्थः। स च विधेयोऽर्थः क्वचिदेकविधः क्वचिद्द्विविधः क्वचित्त्रिविध इति अभिधाया व्यापारः दीर्घदीर्घतरः मन्तव्यः। न च प्रतीयमानार्थान्तरावसायपर्यन्तम्। यत्त्वस्य इषोर्व्यापारसादृश्यं दर्शि तं तदपि न सम्यक्। अर्थाद् यथैक एव सायकः शत्रोरुरच्छदमुरश्चभित्त्वा प्राणानपहरति तथा शब्दोऽपि सकृदेव प्रयुज्यमानः स्वार्थाभिधानमर्थान्तरप्रतिपत्तिं च करोति इति। तत्र पृच्छ्यते ननु यथा शरस्य स्वाभाविको व्यापारस्तथैवाभिधाया अपि वा भिन्नः। न चाभिधाया स्वाभाविको व्यापारोऽत्रापि तु, उपाधिप्रयुक्तः। संङ्केताद्युपाधिं विनाभिधा प्रसरत्येव न। अतः विषमोऽयं दृष्टान्तोपन्यासः।

अतः सिद्धविषयाणां साध्यविषयाणां च शब्दानामुपादाने प्रथमं

द्वितीयायोपदिश्यते, इत्थं कारकाणामपि भव्यत्वं, तच्च भव्यत्वं, बहुविषयमपीत्यत्रैव दीर्घदीर्घतरत्वमभिधाया युक्तम्।

यच्च विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था: इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यम् इत्यनुपात्तस्यापि शब्दस्यार्थे क्वचित् तात्पर्य दृश्यते कथं चोच्यते यदुपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यमिति, तात्पर्येण प्रतीयमानार्थं जिघृक्षोर्मतं निराचिकीर्षन्नाह –

अत्र 'विषं भक्षय' इति सुहृद्वाक्यं, अत: स्वार्थेऽविश्रान्तं सत् विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति लक्षयति। अत एवाख्यात वाक्ययो: भक्षय, भुङ्क्था' इत्याख्यातप्रतिपाद्ययोरङ्गाङ्गिभाव: सम्पद्यते अङ्गाङ्गिभावायैव चकारस्योपादानम्। अन्यथा कथमाख्यातवाक्ययो रङ्गाङ्गिभाव: सम्पद्येत। ''गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्ध: समत्वात्'' इति न्यायस्य जागरूकत्वात्। नह्यत्र लक्षणां विना प्रधानयो राख्यातवाच्यवाक्यार्थयो: समयो: सम्बन्ध: स्यात्। वाच्ययोराख्यात वाक्ययो: साक्षात् कर्तृकर्मभावादिनाऽन्वयोदुर्घट: न तु लक्ष्यवाच्ययो:। अत: विषंभक्षयेत्याख्यातवाक्यस्य कृदन्तवाक्ये लक्षणा, येन विषभक्षणादपि दुष्टभेतद्गृहेभोजनमिति लब्धम्। अस्य कृदन्तवाक्यस्य मा ''चास्यगृहेमुङ्क्था: इति वाच्याख्यातवाक्यार्थेऽन्वय:। एतदेवानु-सन्धायोक्तम् – न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति। कल्पनीया लक्षणयेति भाव:। तदनन्तरं विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था ''इत्यस्य विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्था: इति वाक्यविपरिणाम:। विपरिणते चास्मिन् वाक्ये उपात्तशब्दार्थ एव एतद्गृहे न भोक्तव्यमिति ' तात्पर्यम् न तु अनुपात्ते। अतस्तात्पर्य न तुलाधृतमित्युक्तिरसमीचीना।

भावना

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती तत:।।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नर:।।

इत्यादिना रसनिष्पत्त्यवसरे तिस्रो वृत्तयो भट्टनायकेन दर्शिता:,

अभिधा भावना तद्भोगीकृताख्या च। तत्र केयं भावनेति विचारो वृत्तिविचारावसरेऽवश्यमेवाभ्यर्हति।

तत्र प्रथमं तावत् किन्निष्ठोऽयं व्यापार:, काव्यशब्दनिष्ठ: काव्यार्थनिष्ठ, भावकसहृदयनिष्ठोऽथवा एतत्त्रितयनिष्ठ: सामान्य:।

तत्र केचित् विशिष्टविभावादिमत्काव्यरसयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगमात् रसकाव्ययोर्भाव्यभावकसम्बन्ध: इति कृत्वा काव्यशब्दनिष्ठभावना स्वीक्रियते। अतएव नाट्यशास्त्रे, नाट्ययोक्तृभि: कविभिस्तु ते भावा विज्ञेया, ये भावा अभिनयसम्बन्धान् रसान् भावयन्ति इत्युक्तम्। लोके यथा तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापिकाव्ये तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन रत्यादिप्रतीतिरिति तथाविधकाव्यशब्दरत्यादिप्रतीत्योरविनाभावसम्बन्धमाश्रित्य काव्यशब्देष्वपि रसेन सह भाव्यभावकसम्बन्धो भावनाक्रियावादिभि: स्वीक्रियते। अत एवोक्तं दशरूपके न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव:। किं तर्हि, भाव्यभावकसम्बन्ध:। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादय:। ते हि स्वत: भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते। न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमितिवाच्यम् भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वादिति'। अत: अगृहीतसम्बन्धेभ्योऽपि पदेभ्य: लोके तथाविधदर्शनाद् दरमीलन्नयनात्वादिशब्देभ्योऽपि रत्यादिस्थायिप्रतीतिर्भावनया सम्पद्यते। इयं भावना अभिधेयाविनाभावसम्बन्धेन रत्यादिप्रतिपादकत्वात् लाक्षणिकी बोद्धुं शक्या।

यदा तु काव्यार्थरसयोर्भाव्यभावकसम्बन्धस्तदानीमर्थनिष्ठेयं भावना कविभि: रसेन सहृदयानानन्दयितुं काव्ये प्रवर्त्यते न तु रामादीन्। अत: काव्यार्थोपप्लावित: सहृदयवर्ती रत्यादि: स्थायीभावो निर्भरानन्दसंविदात्मतामापद्यमानो रसो भवति। अत: रामादे: शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमस्मदादिभिरनुभूयमानं विभावत्वेन रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यते। अवभासनेऽस्मिन् रामादि: केवलं धीरोदात्ताद्यवस्थानामेव प्रतिपादको भवति

येन परित्यक्तदशरथतनयादिविशेषो गृहीतधीरोदात्ताद्यवस्थामात्रं प्रतीयते। यथा मृन्मयैर्द्विरदादिभिः क्रीडतां बालानां तदुत्साह एव स स्वदते तथैवार्जुनादिभिः श्रोतृणां स्वोत्साह एवेति। अतोलौकिक-स्त्रीपुरुषादिव्यतिरिक्तविभावादीनां नाट्ये परिग्रहः। विभावादिष्वपि भावनाव्यापारविशेषः स्वीक्रियते। इत्थं काव्यव्यापाराहित-विशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदादिप्रभृतिभिरालम्बनविभावै-र्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभी रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपाद्यैरनुभावैरवान्तर्गतव्यापार-विभावनाऽनुभावनसञ्चारणैर्भावरूपतां नीतः स्थायी भावः स्वदते। इत्थं सहृदयस्वादानुकूलस्थायिभावानयने साधारणीकर्तुं विभावादिषु विभावनादिव्यापार एव भावनाव्यापारः कैश्चित् स्वीक्रियते। यथोक्तं भट्नायकेन– 'विभावादिसाधरणीकरणात्मनाऽ- भिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन .... भोगेन परं भुज्यत इति। यद्यपि साधरणीकृत-विभावानामुपस्थितौ भट्टनायकेन भावकत्वन्यापार इति, विभावादीनां सर्वेषां भावरूपतामानीतानां रसास्वादावसरे, भावनिष्ठत्वेन भावकत्व (भावना) व्यापारः स्वीक्रियते, तथा चान्येन मतेन विभावादिष्वेव विभावनादिव्यापारमहिम्ना साधारणीकृतेषु साधारणीकृतस्थायिभावा-नयनमिति पूर्वोक्तमते लभ्यते। यथोक्तं दशरूपके –

विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते।

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः।
काव्याद् विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः।
भावितः स्वदते स्थायी, रसः सः परिकीर्तितः।। इति

विभावसञ्चार्यनुभावेषु अवान्तरकाव्यव्यापारो विभावन सञ्चारणानुभावनेति मन्तव्यम्। उक्तञ्च साहित्यदर्पणे –

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्नासाधारणीकृतिः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।

इत्थं विभावनादिव्यापारश्चेत्, भावकत्वव्यापारस्तथा च भट्टनायकानुमतो विभावादिसाधारणीकरणात्मा भावकत्वव्यापारः,

काव्यार्थनिष्ठ इति काव्यार्थगतोऽयं स्वीक्रियते। चेत् सहृदयता-सहकृतस्तदानीं सहृदयनिष्ठोऽपि। सहृदयनिष्ठो भावकत्वव्यापार इति पक्षे व्यापारस्य शब्दार्थनिष्ठत्वेन प्रसिद्धत्वात् सहृदयनिष्ठत्वे व्यापारत्वहानिरपि किं न कल्प्येत। ननु भावकपदं न केवलं भावककाव्ये प्रयुक्तमपितु ' ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यते 'इत्युक्त्या भावकपदेन सहृदया अपि गृह्यन्ते, तर्हि तत्रापि भावकत्वव्यापार: कथं न स्यात्।

उक्तञ्च रसगङ्गाधरे भट्टनायकमतानुवादे – न कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्। अप्रामाण्यनिश्चया-नालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटावश्यं निवेश्यत्वात् इति। अत्र नागेश: - विशेष्यतासम्बन्ध: समवाय: इति। समवाय-सम्बन्धेन तादृशज्ञानस्य सहृदयात्मनिष्ठत्वेन सहृदयनिष्ठ-भावकत्वव्यापार: सुलभ:। अत एव टीकाकृदादिभिर्भट्टनायकमते भावकत्व व्यापारस्यातिरिक्तकल्पनायां गौरवं प्रदर्शितम्।

एतत्सर्वमनुसंधाय पण्डितराजेन भावकत्वव्यापारस्यातिरिक्तकल्प नायां गौरवमनुभूयाभिनवगुप्तमताऽनुवादे, सहृदयहृदयप्रविष्टाना-मालम्बनादिकारणानां विगलितदु:ष्यन्तरमणीत्वादिरूपविभावादि व्यपदेशाय, सहृदयतासहकृतभावनाविशेषव्यापार: स्वीकृत: सहृदयहृदयप्रविष्टेषु विभावादिषु सहृदयतासहकृतेन भावनाविशेष महिम्ना अलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिव्यपदेश्यत्वञ्च दर्शितम्। भावनाविशेषोऽयं न भिन्नो भावकत्वव्यापारात्मा अपितु विभावना-नुभावनसञ्चारणादिरूप एव। अतो नातिरिक्तव्यापारकल्पनम्।

एतेन भावकत्वव्यापारस्य शब्दार्थसहृदयनिष्ठत्वेन तत्तदाचार्यै र्निर्दिष्टमिति प्रतिपादितम्।

ननु भावनेयमभिधातो द्वितीयव्यापारत्वेन स्वीकृतत्वात् विरोध्यंशपरित्यागपूर्वकाविरुद्धार्थग्रहणाद् भागत्यागलक्षणैव कथं न भवतु। शकुन्तलादिषु पूज्यबुद्धित्वाद् रसानुकूलविभावादि-त्वेनोपस्थितेरसम्भवात् तत्वेनोपस्थितये अगम्यात्वप्रकारकविरुद्धांश परित्यागपूर्वककान्तात्वस्य ग्रहणात्। चेद् विभावादिभ्यो रत्यादिभावनम्

तदानीं रत्यादेरपदार्थत्वात् तस्यैव च वाक्यार्थत्वात् लक्षणलक्षणा वा भवतु। विभावादिभिः सह रत्यादिसंवलितत्वे उपादानलक्षणा वा स्यात्, किमुत भावना। उक्तञ्च दशरूपके 'रत्याद्यविनाभूत चेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभूतभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीति 'रिति'।

उच्यते, अभिधापुच्छभूताया लक्षणायाः प्रयोजनवशात् तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थबाधेजाते सति मुख्यार्थ सम्बद्ध-लक्ष्यार्थोपस्थित्यान्वयमात्रोपक्षीणता, वाक्यार्थविषयपदार्थान्वये जाते सति तात्पर्यार्थबाधोन्मीलिते मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तावच्छेदकावच्छिन्नान्वयमात्रोपक्षीणतेति आलङ्कारिकैर्निर्दिष्टम्। विभावादीनामन्वये नास्ति मुख्यार्थबाध इति नास्ति प्रथमलक्षणयाः अवसर। मुख्यार्थान्वये जाते सति रत्यादिप्रतीतौ नास्ति बाध इति न द्वितीयाया अवसरः। सहृदयनिष्ठरसादिप्रतीतिवेलायां समुपस्थिते बाधे, तद्दोषविशेषमहिम्ना वा विभावनादिव्यापारमहिम्ना वा भावकत्वव्यापारमहिम्ना वा विरुद्धांशत्याग इति कुतः लक्षणाया अवसरः। यथा —

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः।।

इत्यत्र नास्ति क्वापिबाधोदयः, अभिधामूलध्वनित्वात्। त्तत्तत्पदाभिव्यक्तानुभावानां न 'रतये' इति रतिपदेन सहान्वयः। अपि तु अनुभावभावितरतेः सहान्वयः। अतस्तत्र लक्षणाया नोदयः। इति धियोभयोर्विविक्तविषयत्वं बोध्यम्।

भोजकत्वव्यापारः वा रसनाव्यापारः

भट्टनायको भोजकत्वव्यापारेण रसो भुज्यते इति स्वीकरोति। एतन्मतानुसारेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरि'ति सूत्रव्याख्यायां भरतमुनिर्यथा 'नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादीं'श्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, इति न्यदर्शयत्। अत्रैव—

भट्टनायकः, भोग्यस्य भोक्तुः फलस्य च साम्यं यथातथाशब्दाभ्यां दर्शयन् व्याख्याति— व्यञ्जनसंस्कृते अन्ने आस्वाद्यता, एकाग्रमनसि भोक्तरि आस्वादयितृता। प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणां चास्वदफलता। तथा स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता, एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूते चास्वादयितृता, प्रहर्षधर्मादिव्युत्पत्ति-वैदग्ध्यादीनामास्वादफलता। इत्थं कर्मकर्तृफलसादृश्यात् विभावादिजः संविद्विशेषो भोगक्रियेति व्यपदिष्टः। तेन भोगेन भुञ्जाना सुमनसः हर्षादीन् यान्ति रसानास्वादयन्ति। भोगोऽयं अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणः रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्याद्द्रुतिविस्तार विकासक्षोभादिलक्षणः सत्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधश्च स्वीकृतः। अनेनैव भोगेन विभावादिसाधारणीकरणात्मभावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः रत्यादिस्थाय्यात्मरसो भुज्यते। अत्र भुज्यत इति यका निर्देशः, स्थायिनो भोग्यत्वलाभाय न तु रसस्य, यतोहि उक्तम् 'आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते' इति। ननु रसोऽपि अनुभवविषयतयैव गृहीतः न स्थायिमात्रमिति, यतोहि—तेनैवोक्तं 'संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः। आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते' इति। व्यङ्ग्यत्वेन परसंवित्तिविषयत्वेन च तस्यानुभवव्यतिरिक्तत्वेनानुभवविषयत्वेनैव च संग्रहो विहितो दृश्यते यतोहि 'काव्येन भाव्यन्ते रसाः' इति विभावादिजनित चर्वणात्मकास्वादरूपभोगात्मप्रत्ययगोचरतापादनमेव रसः, इति निर्दिष्टः। अस्तु विषयत्वं व्यङ्ग्यत्वं तु रसस्य लक्षणया मन्तव्यम्। आस्वादनात्मानुभवो रसः' इत्युक्त्या आस्वादरूपभोगप्रत्ययात्मा एव रसः, व्यङ्ग्यत्वे गोचरत्वे चोपचार इत्येवाभिप्रायः। यतो हि उक्तम्, अस्या कारिकायास्तात्पर्यलेखनेऽभिनवभारत्याम्—तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते, अनुभवेन च तद्विषयः' इति मन्तव्यम्'। इति।

चेन्नानुभवो रसः तत्र तद्विविषयश्चेद्रसस्तर्हिभोगेन भुज्यते' इत्यस्यापि सामञ्जस्यात्, भट्टनायकानुसारेण विषयतयैव रसस्थितिरिति रसनिष्पत्तिः। सा सक्षाद् रसस्यनिष्पत्तिरिति सूत्रार्थः।

अभिनवमते तु रसपदेन 'रसना' गृहीता, अत: रसनाया निष्पत्ति दर्शिता। रसनाविनाभावाद्रसनिष्पत्तिरुपचर्यते इति विवेक उभयो:।

व्यञ्जना

निर्दिष्टेभ्य एतेभ्य: सर्वेभ्यो व्यापारेभ्यो विलक्षण: काव्यव्यापारो व्यञ्जनेति आचार्यैर्निर्दिष्टम्। भामहेन स्वकाव्यलक्षणे 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति' निरूप्य व्यञ्जनाया: समुन्मेष: कृत:, पश्चादानन्द-वर्धनाचार्येण ध्वनिकाव्यं निरूपयता, स्पष्टतया समुपवृंहिता। बहुभिर-नधिगतवाक्यार्थसरणिभि: ''सहितौ'' इत्यस्य सहावस्थितौ' इत्यर्थो निरूप्यते। तत्र ते प्रष्टव्या:, साहित्यशास्त्रस्य चिरन्तनेष्वाचार्येषु प्रधानतया प्रामुख्येन वा समभ्यर्हित आचार्यभामह: काव्यलक्षण-विधाने कथं पुरोभागित्वमाचरत्। शब्दार्थाविति द्वन्द्वेनैव शब्दार्थयो: साहचर्यस्य समुपस्थितौ पुन: भिन्नपदाधानेन सहितावित्यनेन किं प्रयोजनम्। एतत्पौनरूक्त्यपरिहाराय 'सहितौ' इत्यस्यार्थो विचारयितव्य:। हितेन सह वर्तमानौ सहितौ इति सहस्य सभावे कृते हितपदार्थो व्युत्पादनीय:। तत्र धाधातो: क्तप्रत्ययेन निष्पन्नं हितपदं अभिहितमित्यर्थममिधातुं समर्थम्। विनापिप्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपेत्यादिना 'अभि' पदस्यलोप:। मुकुलभट्टेनाभिधया वाच्यलक्ष्ययोरुभयोरर्थयोर्ग्रहणं दर्शितम्। चेद् भावे क्तप्रत्ययस्तदानी मभिधालक्षणयोर्ग्रह:। उभयोर्ग्रहणं तत्वत: 'शब्दार्थौ' इत्यर्थपदेन स्पष्टमस्ति। अतश्चेदेताभ्यामेव सहितौ शब्दार्थौ तदानीमपि किमपि नोक्तम्। अतस्ताभ्यां सह वर्तमान: कश्चनैतदतिरिक्तोऽर्थो व्यापारोवा ग्रहीतव्य: स चानभिधेयो लोके काव्याकाव्यादौ सर्वत्रोपलभ्य: सहृदयहृदयैकगम्य: वक्रार्थरूपो वा वक्रव्यापाररूपो वा ग्राह्यो भवति। तत्र शब्दार्थसाहचर्येण ग्राह्यत्वे काव्यत्वं तदितरत्र स्थलेऽकाव्यत्वमिति स्फुटम्। अतोऽत्रैवाद्याचार्येणैव व्यञ्जनस्योन्मेष: कृत:। पश्चाद् वक्रोक्तिजीवितकारेणास्यैव व्याख्या काव्यलक्षणप्रसङ्गे विहितेव प्रतिभाति। यथा।

शब्दार्थौसहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
वन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि। इति।

इत्थं परम्परामनुरुन्धानेनैवाचार्यानन्दवर्धनेन ध्वनिर्व्यञ्जना च काव्ये स्फुटतया विवेचिते। अत उक्तं–द्वावप्यर्थौ वाच्यप्रतीयमानाख्यौ पूर्वविद्वद्‌भि स्मृतिविषयीकृतौ किन्तु तयोर्मध्ये वाच्यस्य स्फुटं व्याकृतिर्लभ्यते न तु द्वितीयस्य, अतः अत्र मया स एवार्थः प्रतन्यते। यथा

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितौ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैस्ततोनेह प्रतन्यते।। इति ।

इत्थं मूलाविच्छिन्नो यः प्रतीयमानार्थगतो व्यापार स व्यञ्जना शब्दार्थनिष्ठेति सम्प्राप्तम्।

अतः व्यञ्जनाया लक्षणमित्थंकर्तव्यम् –

अभिधाद्यतिरिक्तार्थे चमत्कारप्रसूर्बुधैः।
मन्यते व्यञ्जना वृत्तिः शब्दस्यार्थादिकस्य च।

यत्तु साहित्यदर्पकारेण –

'विरतास्वभिधाद्यासु ययान्योर्थो प्रतीयते' इत्युक्तं तन्न गुणीभूतव्यङ्ग्यस्थले अभिधाया तात्पर्याख्याया वा अविरतत्वेऽपि व्यञ्जनायाः स्थिति र्लभ्यते। चेदभिधया न वाक्यार्थः केवलं पदार्थ एव गृहीतस्तथापि न निस्तारः यतोहि 'अभिधाद्यासु' इत्यस्य अभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु इति व्याख्यातत्वात्।

ननु विशिष्टवाच्यलक्ष्यार्थयोस्तद्विशेष्यैकदेशतो गुणभाव-रसादीनां विवक्षितार्थानां गम्यत्वे गम्यगमकयोर्वृत्तिर्गतिरिति, तथा च स्वार्थविशेषणगुणादिनार्थान्तरमनुस्यूता गुणादिभ्यः पृथग् द्योत्ये तद्विशेष्यसामर्थ्यकल्प्येऽर्थे द्योतकस्य या वृत्तिः सा द्युतिरिति। तथा च वाच्यलक्ष्यादिवस्तुषु पदवाक्यार्थसंश्रये गुणे रसेऽलङ्कारे वा योऽतिशयः, प्रत्याय्यस्तत्र प्रत्यायकस्य यो व्यापारः स प्रतीतिरिति व्यपारग्राह्याणामर्थानामपि अभिधाद्यर्थातिरिक्तार्थत्वे तेष्वतिव्याप्तिः व्यञ्जानायाः, यथोक्तम् –

विशिष्टे वाच्यलक्ष्येऽर्थे विशेषणविशेष्ययोः।

यावदर्थं विवृण्वन्ती या वृत्तिर्गतिरीरिता।।
वाक्यार्थावयवीभूतपदार्थान् जिघ्रती क्रमात्।
विवक्षिते द्योतमाना या वृत्तिर्द्युतिरुच्यते।।
अविश्रमेण व्यापारो रसाद्यतिशयावधिः।
प्रत्यायकस्य प्रत्याय्ये प्रतीतिरितिकथ्यते।। इति।

तन्न। एतासां सर्वासां वृत्तीनां व्यञ्जनायामेवान्तर्भावो दर्शितः। यथा काव्यप्रकाशे –

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम्। आदिपदेन अञ्जनप्रकाशनप्रत्यायनावगमनबोधन-सूचनादीनां परिग्रह इति टीकायाम्, काव्ये अवगमनपर्यन्तमेव ग्रहणमिति मामकीनः पक्षः। बोधनस्य सामान्यात्मतया सूचनस्य चाकाव्यात्मतया नात्र परिग्रह उचितः। एतेन स्पष्टं भवति यत्प्राचीनैस्तत्तद्विशेषस्थले तत्तद्वृत्तिरपि स्वीकृता तासां सर्वासां व्यञ्जनया सुग्रहो दर्शितः।

तथाच अनुमित्यर्थापत्तितर्जनीतोलनात्मसूचनस्मृतिप्रत्यभिज्ञा-भिधाद्यादिवृत्तित्रयभिन्नत्वेन व्यञ्जनाया स्थितिराचार्यैर्दर्शिता।

व्यञ्जनेयमपि अभिधालक्षणावृत्तिवत् शब्दगता अर्थगता च भवति। अभिधालक्षणाभ्यामनन्तरं व्यञ्जनोत्थानादभिधामूला लक्षणामूला किञ्चात्र स्वात्ममूलात्मतयापि स्वात्माविर्भावाद् व्यञ्जनामूला चापि भवति। इत्थं अभिधामूला शाब्दी, आर्थी, लक्षणामूला शाब्दी, आर्थी, तथा च व्यञ्जनामूला शाब्दी आर्थीति षड्विधा प्रतिपद्यते।

तेषु अभिधामूलशाब्दव्यञ्जना, नानार्थकपदनिष्ठा प्रसिद्धा। नानार्थकं पदमनेकञ्चेद् वाक्यमूलव्यञ्जना, एकञ्चेत् पदमूल-व्यञ्जनेति द्विविधा। तत्राद्या संयोगादिना नानार्थकानां शब्दानां प्रकृतवाक्यार्थे नियन्त्रिते यदाऽप्रकृतवाक्यार्थबोधस्तदानीमप्रकृत-वाक्यार्थरूपं वस्तु व्यङ्ग्यं, तच्च केवलं व्यञ्जनागम्यम्। तथा च प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोर्यदोपमानोपमेयभावादिर्व्यङ्ग्यस्तदानीं तन्मूलालंकारव्यङ्ग्य इति। उदाहरणं यथा –

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नते: कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगते: परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभग: सततं करोऽभूत्।।

अत्र गृहीतसंकेतकस्य पुरुषस्याभिधया नानार्थकपदानां सर्वेषां संकेतितार्थानामुपस्थितौ पश्चात् संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारिते, प्रकृतराजसम्बद्धवाक्यार्थबोधेऽभिहिते गजसम्बन्धिवाक्यार्थ-बोधाय संयोगादिना नियंत्रितशक्तिकाऽभिधा पूर्वं सर्वपदार्थो-पस्थापिकत्वेऽपि इदानीमप्रकृतवाक्यार्थबोधे शिथिला तदनुकूल-पदार्थानपि नोपस्थापयति। पूर्वोपस्थापितपदार्थानां सन्निधेरभावान्न वाक्यार्थबोधे सामर्थ्यमिति अप्रकृतपदार्थवाक्यार्थयोरूभयत्र व्यञ्जनैव। यथोक्तम् 'संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्य-नेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्या: इति।

यदि अप्रकृतार्थस्यापि कृते अभिधा स्वीक्रियेत तदानी पुन: पदानुसंधानरूपगौरवापत्तिर्दुर्वार्या। व्यञ्जनया तु लाघवापत्ति: स्पष्टा। अत्र वंश शिलीमुखपरवारणदानकरशब्दानामनेकार्थकत्वम्।

सभङ्गश्लेषेणापि सवस्त्वलंकारध्वनिर्दशयता, यथा-

उल्लास्यकालकरवालमहाम्बुवाहं
देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन।
निर्वापित: सकल एव रणे रिपुणां
धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलित: प्रताप:।।

अत्र कालकरवालमहाम्बुवाहमित्यत्र, कालकरं कृष्णकान्तिं, बालं महाम्बुवाहम्, प्रकृते तु कालकरवालेति। अत्र तु अनेकार्थक: शब्द: कोशादिना संकेतित्र: पूर्ववत् प्रायो न लभ्यते। रणजलयोस्तु ध्वनिकान्त्यर्थयोरपि सत्वे कदाचित् नानार्थकत्वं स्यात्। अन्यथात्वेऽपि नास्ति काचित् क्षति:।

क्वचिदभिधामूलशब्दशक्तेरलंकारध्वनिस्तु कोशादिना निर्दिष्ट-नानार्थकपदाभावेऽपि समस्तपदस्य विश्लेषेण लब्धार्थान्तराभास-मात्रेणापि दृश्यते। यथा - 'तिग्मरुचिरप्रतापो-विधुर-निशाकृद्विभो मधुरलील:' इत्यादौ। अत्र तिग्मो रुचिर: प्रतापोयस्य स तथा च तिग्मरुचि: अप्रताप: इति सन्धिविश्लेषलभ्य: विरोधाभास:।

क्वचिच्च समासकृतो नानार्थकाभासेऽपि यथा-

'अहित: सहित: साधुयशोभिरसतामसि'।

अत्र असतामहित: साधुयशोभि: सहित: इति वाक्यार्थानन्तरं श्रुतमात्रेण यो हितेन रहित:, सह कथं हितेन सहित: इत्याभासार्थमात्रे विरोधाभासोलंकार:।

शुद्धवस्तुध्वनिर्यथा –

पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक्प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस।।

अत्र प्रकृतार्थे प्रस्तरबहुलग्रामे कट्टाद्यास्तरणं नास्ति अत्युन्नतं मेघं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्निवस इति तदनन्तरं मूर्खप्रायग्रामे विहिताविहितकार्यबोधकशास्त्रादिविचारो नास्ति। अनुपभुक्तमुन्नतं स्तनं प्रेक्ष्य यदि उपभोगक्षमोऽसि, तर्हि आस्स्व इति अप्रकृतार्थ-बोधाय व्यञ्जनैव स्वीक्रियते।

एतेषु स्थलेषु अभिधामूलवाक्योत्थव्यञ्जना मन्तव्या।

अभिधामूलपदोत्थव्यञ्जनामूलवस्तुध्वनिर्यथा –

'शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्।'

अत्र वज्रार्थकाशनिपदस्य शनिविरोध्यर्थकत्वेन 'विरुद्धाविति' व्यज्यते। अतो विरुद्धावपित्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति वस्तु ध्वन्यते।

तादृग्व्यञ्जनामूलालंकारध्वनिर्यथा –

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।

अत्राभित्तावेव चित्रं नानाविधं जगत् तन्वते कलाश्लाघ्याय शूलिने नम: इति अभिधेयार्थपर्यवसानानन्तरं जगदिवचित्रमिति 'कला' चन्द्रकला इव कला, आलेख्यक्रियाकौतुकमिति, चित्रकलाभ्यां पदाभ्यां मषीतूलिकाद्युपकरणैर्भित्तावालेख्यकर्तृभ्य: शूलिन उत्कर्षो व्यज्यत इति व्यतिरेकालंकार:।

अभिधामूलशब्दोत्थव्यञ्जनामूलरसध्वनिर्यथा–

पदैकदेशादिव्यञ्जकतायाम्। प्रकृति-प्रत्ययसम्बन्ध-वचन-पुरुषव्यत्यय-पूर्वनिपातविभक्ति-तद्धितोपसर्गाव्ययीभावादिभि:

काव्यप्रकाशे विपुलमुदाहृतम्।

लक्षणामूलशाब्दीव्यञ्जना यथा–

गङ्गायां घोषः, इत्यादयः, मुखं विकसितस्मितम् इत्यादयश्च लक्षणाहेतुबाधादेः श्रुतमात्रेण यत्र प्रत्ययो भवति सा लक्षणामूलशाब्दीव्यञ्जना। यत्र च वाक्यार्थपर्यवासानन्तरं वक्तृबोध्यादिवैशिष्ट्याद् मुख्यार्थबाधादिहेतोः प्रत्ययस्तत्र लक्षणामूलार्थी–व्यञ्जना। यथा– 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इति। वक्तृबोधव्यादिकाकूनांवाक्यवाच्यान्यसन्निधेरित्यादि साहाय्येन यत्रार्थस्यार्थान्तरधीस्तत्रार्थी व्यञ्जनेति लक्षितम्। अभिधाहेतुसंकेताश्रयत्वेन अभिधामूलत्वं, लक्षणाहेतुबाधाद्याश्रयत्वेन लक्षणमूलत्वम् बाधाबाधसाधारणाप्रसिद्धार्थविषयकधीसमाश्रयत्वेन व्यञ्जनामूलत्वमिति मन्तव्यम्।

पदगतलक्षणामूलव्यञ्जना– सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचित् त्वयेति।

लक्षणामूलावाक्यगतव्यञ्जना यथा– मुखं विकसितस्मितमित्यादयः। अनेकपदाश्रयत्वेन कामिनीरूपविभावाश्रयत्वेन च वाक्यगता।

वाक्यार्थगता यथा– यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथेत्यादयः। अत्राश्वस्तत्वनियन्त्रणीयत्वादयोऽर्थाः धन्यजन्मजीवननानुकूलत्वेन सन्तीति वाक्यार्थव्यञ्जकत्वम्।

अथवा– 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते इत्यादयः।

अभिधामूलवाक्यार्थव्यञ्जनाया उदाहरणं, तु वक्तृबोद्धव्यादिसाहाय्येन अर्थशक्त्युद्भवस्य द्वादशभेदाः काव्यप्रकाशे निर्दिष्टा मन्तव्याः।

व्यञ्जनामूलाशाब्दीव्यञ्जनाया उदाहरणम्– रसानुकूला वृत्तयोनुप्रासादयश्च।

व्यञ्जनामूलाआर्थीव्यञ्जनाया उदाहरणम्–

'पश्यनिश्चलनिष्पन्देति पद्यम्।'

'विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं नाभिकमलस्थमिति।'

इति संक्षेपेणाऽत्र व्यञ्जना दर्शिता, अनुमानस्मृत्यादिभ्य: सर्वथा भिन्नेयमिति न क्वाप्यन्तर्भाव इति विवेक: मन्निर्मितचन्द्रालोकटीकाया भूमिकायां द्रष्टव्य:।

।। इति सम्पूर्णोऽयं रसवसुमूर्त्तिः ।।



लेखक परिचय

नाम— प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी
आचार्य व अध्यक्ष, साहित्यविभाग
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय
काशिहिन्दूविश्वविद्यालय
वाराणसी—२२१००५, उ० प्र०, भारत।

जन्म— ०९/०३/१९४८ ग्रा०— नरेथूआँ, पो०—औराई, जि०—वाराणसी (वर्तमान में सन्तरविदासनगर भदोही)।

शिक्षा— १९६४—हाईस्कूल, १९६६—पूर्वमध्यमा, १९६८—उत्तरमध्यमा, १९७०—शास्त्री, १९७२—आचार्य, १९७८—एम० ए०, चक्रवर्ती(पी—एच०डी०)।

अध्यापन— ज० १९७६ से अप्रै० १९८० साहित्यविभागाध्यक्ष वर्गीयमहाविद्यालय, १९८० से अभी तक बी० एच० यू० में लेक्चरर्, सी० लेक्चरर्, रीडर होते हुए।

प्रकाशन— किरातार्जुनीय ३—६ सर्ग, काव्यमीमांसा १—५ सर्ग, चन्द्रालोक, भट्टिकाव्य, भारतजीवनम् खण्डकाव्य (पुरस्कृत उ० प्र० संस्कृत अकादमी), वृत्तिवार्तिक, एवं अनेक शोधपत्र।

आगामी प्रकाशन— व्यक्तिविवेक संस्कृत हिन्दी